विश्व-साहित्य-ग्रन्थमाला
'नाटक-विभाग' का पहला ग्रन्थ

अशोक

(मौलिक नाटक)

लेखक—
चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

प्रथम संस्करण १००० | सितम्बर १९३५ | मूल्य अजिल्द १) ,, सजिल्द १।=)

प्रकाशक—
श्रीयुत चन्द्रगुप्त विद्यालंकार
विश्व-साहित्य-ग्रन्थमाला
हस्पताल रोड, लाहौर

मुद्रक—
श्री भीमसेन विद्यालंकार
नवयुग प्रिंटिङ्ग प्रेस,
मोहनलाल रोड, लाहौर

निवेदन

ग़लत या सही, यह विश्वास मुझे बहुत दिनों से है कि मैं एक सफल नाटककार बन सकता हूँ। और मेरे इसी विश्वास का पहला फल यह "अशोक" नाटक है। कला के समालोचकों से मेरा अनुरोध है कि वे इस नाटक की खरी-खरी आलोचना करें। मैं उन्हें विश्वास दिलाता हूँ कि प्रतिकूल आलोचना सुन कर भी मैं निराश या हतोत्साह नहीं होऊँगा।

"अशोक" के सम्बन्ध में, यदि ज़रूरत हुई तो, कैफ़ियत फिर कभी दूँगा। यहाँ मैं सिर्फ़ एक ही निवेदन करना चाहता हूँ। पहले नाटक प्रायः रंगमंच पर खेलने के लिए लिखे जाया करते थे। परन्तु अब रंगमंच का स्थान चलचित्रों ने ले लिया है। इस नाटक में मैंने अनेक दृश्य ऐसे रक्खे हैं, जिन्हें रंगमंच पर तो आसानी से नहीं खेला जा सकता, परन्तु उनका चित्र बनाने में कोई कठिनाई न होगी।

इस नाटक के गीतों के लिए मैं अपनी पसन्द के श्रेष्ठ कवि श्री प्रियहंस जी का कृतज्ञ हूँ। उनकी कृपा न होती तो शायद "अशोक" में एक भी गीत न जा सकता।

हिन्दी-जगत् ने यदि मेरा यह प्रयास पसन्द किया तो मैं अन्य भी अनेक नाटक उसकी भेंट कर सकूँगा।

आशा-निकेतन
लाहौर
११ सितम्बर १९३५

—चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

नाटक के पात्र

पुरुष

बिन्दुसार—भारत सम्राट् (अशोक के पिता)
सुमन—युवराज (बिन्दुसार के बड़े पुत्र)
अशोक—भारत सम्राट् (बिन्दुसार के मँझले पुत्र)
तिष्य—बिन्दुसार के छोटे पुत्र
आचार्य उपगुप्त—सम्राट् अशोक के गुरु (बौद्ध-धर्म के सब से बड़े नेता)
चण्डगिरी—पहले क्षत्रप, फिर सेनापति
मौखरी—पहले सहायक सेनापति, फिर सेनापति
दीपवर्धन—शीला के पिता
कुणाल } सम्राट् अशोक के पुत्र
महेन्द्र }

स्त्री

शीला—युवराज सुमन की वाग्दत्ता वधू
तिशी (तिष्य रक्षिता)—अशोक की पत्नी (साम्राज्ञी)
चित्रा—अशोक की बहन
संघमित्रा—अशोक की पुत्री

स्थान

पाटलीपुत्र—भारत साम्राज्य की राजधानी
तक्षशिला—सीमा प्रान्त की राजधानी
तुशाली—कलिंग की राजधानी
वैशाली—मगध साम्राज्य का एक प्रमुख नगर

अशोक
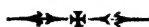
प्रथम अंक

पहला दृश्य

स्थान—पाटलीपुत्र।

समय—सायंकाल।

[युवराज सुमन अपने दोनों भाइयों, अशोक तथा तिश्य के, साथ सायंकाल की पोशाक पहने हुए राजप्रासाद के उद्यान में खड़े हैं। नगर के मन्दिरों में आरती हो रही है और उसकी हल्की-हल्की आवाज़ राजकुमारों के कानों में पड़ रही है।]

सुमन—तुमने भी कुछ सुना तिश्य ?

तिश्य—क्या चीज़ ? यह आरती के घण्टों की मधुर ध्वनि ?

सुमन—बस, तुम्हारी कल्पना और तुम्हारी दुनिया तो यहाँ तक ही सीमित है। (घूम कर) अशोक, तुमने तिश्य से तक्षशिला के विद्रोह के सम्बन्ध में कोई बातचीत नहीं की ?

अशोक—नहीं युवराज। तिश्य को ये बातें जानने की आवश्यकता भी क्या है।

सुमन—ख़ैर, जाने दो। यह बताओ कि तुमने तक्षशिला जाने के बारे में क्या निश्चय किया है ?

अशोक—तक्षशिला के विद्रोह को तो मैं बच्चों का खिलवाड़ समझता हूँ। दो-एक व्यक्तियों के कान ऐंठ देने से ही यह विद्रोह शान्त हो जायगा।

सुमन—मगर कान ऐंठने के लिए भी तो तुम्हारा वहाँ जाना ज़रूरी ही है न?

[धीरे-धीरे तिष्य दोनों भाइयों से पृथक् होकर दूर जा खड़ा होता है और दूर पर दिखाई देने वाले मन्दिरों के शिखरों की ओर देखने लगता है।]

अशोक—जाने में तो कोई हर्ज़ नहीं। मगर इन दिनों राजधानी में ही रहने को जी चाहता है।

सुमन—यह क्यों कर?

अशोक—इसका कोई ख़ास कारण नहीं है युवराज। यों ही बाहर जाने को जी नहीं चाहता।

सुमन—मगर राजकीय कर्तव्य जी की चाह से ऊपर की चीज़ है। यह तुम मानते हो न अशोक?

अशोक—इस साम्राज्य के युवराज को राजकीय कर्तव्य की चिन्ता एक साधारण राजकुमार की अपेक्षा कहीं अधिक होनी चाहिए।

सुमन—क्या कहा, साधारण राजकुमार! अशोक, एक बार फिर से सोचो कि यह तुमने क्या कह डाला।

[अशोक कोई जवाब नहीं देता, वह आँखें नीची करके चुपचाप खड़ा रहता है।]

सुमन—(भर्राई हुई आवाज़ में) अशोक?

(अशोक उसी तरह चुपचाप खड़ा रहता है।)

सुमन—भाई अशोक!

अशोक—(धीरे से) कहिए, मुझे कब तक्षशिला जाना होगा?

सुमन—अशोक, सच-सच कहो; तुम्हें मेरा युवराज होना पसन्द नहीं है क्या ?

अशोक—मैंने तो यह नहीं कहा।

सुमन—सच-सच कहो अशोक ? (गला भर आता है।)

अशोक—मुझे क्षमा कीजिए युवराज !

सुमन—युवराज मत कहो। मुझे भाई कह कर पुकारो, सिर्फ़ भाई।

अशोक—मैं कल सुबह ही तक्षशिला के लिए रवाना हो जाऊँगा भाई साहब !

सुमन—(अशोक के कन्धे पर हाथ रख कर) मेरी ओर देखो भाई।

(इसी समय तिश्य नज़दीक आकर कहता है)

तिश्य—(सुमन की ओर देखकर) एक बात का जवाब देंगे भाई साहब ! (प्रायः साथ-ही-साथ) मगर मुझे इस तरह अचानक बीच में आकर बाधा डाल देने के लिए माफ़ कर दीजिएगा।

सुमन—(जबरदस्ती थोड़ा-सा मुस्करा कर) क्या पूछते हो तिश्य ?

तिश्य—कोई ख़ास बात तो है नहीं। मगर आप यह बताइए कि आपने अभी तक विवाह क्यों नहीं किया ?

(सुमन और अशोक दोनों मुस्करा पड़ते हैं।)

तिश्य—(जरा गम्भीर होकर) आप दोनों मुझे अभी तक बिलकुल बच्चा समझते हैं।

अशोक—और नहीं तो तुम किसी के बुजुर्ग हो क्या ?

सुमन—अच्छा तिश्य, तुम्हें अचानक यह सवाल सूझ कैसे गया।

तिश्य—(खुश होकर) देखिए न भाई साहब ! अभी-अभी जब आप दोनों आपस में बहस कर रहे थे तो मैं कुछ दूर खड़े रह कर मन्दिरों के वाद्य की अस्पष्ट ध्वनि सुनने का मज़ा ले रहा था। अचानक एक स्वर मुझे ऐसा भी सुनाई दिया, जो कल ही भाभी ने मुझे सुनाया था। ओह, भाभी इसराज, कितना अच्छा बजाती है। सहसा मुझे भाभी की याद आ गई और उसके बाद अचानक यों ही ख़याल आ गया कि जब अशोक भ्राता जी मेरे लिए एक भाभी ला चुके हैं, तो फिर आपने अभी तक विवाह क्यों नहीं किया।

अशोक—नहीं तिश्य, तुमने अभी तक ठीक-ठीक कारण नहीं बताया।

तिश्य—क्या नहीं बताया ?

अशोक—असली कारण।

तिश्य—अच्छा आप ही बता दीजिए।

अशोक—तुम्हें अचानक इच्छा हुई होगी कि मैं भी क्यों न शीघ्र ही विवाह कर लूँ। इसके बाद तुम्हें ख़याल आया होगा कि जब तक सबसे बड़े भाई का विवाह न हो जाय, तब तक तुम्हारी ओर ध्यान ही कौन देगा। क्यों है न यही बात !

तिश्य—(सुमन की ओर देख कर) देखिए न भाई साहब, यह सदैव मुझे इसी तरह खिजाया करते हैं।

सुमन—राजप्रासाद की पूजा का समय हो गया। चलो, उस ओर चलें।

[तीनों भाइयों का प्रस्थान। सुमन का चेहरा अब भी काफ़ी गम्भीर प्रतीत हो रहा है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—तक्षशिला के मुख्य बाज़ार का एक भाग।

समय—मध्याह्नोत्तर।

(नागरिकों की एक भीड़ एकत्र है और शोर-गुल हो रहा है।)

एक नागरिक—क्षत्रप चण्डगिरी आज सुबह से दिखाई नहीं दिया।

दूसरा ना०—हाँ, हाँ, दिखाई तो वह सचमुच नहीं दिया।

तीसरा ना०—चण्डगिरी भाग गया।

चौथा ना०—(चिल्ला कर) चण्डगिरी का नाश हो।

सब लोग—(एक साथ चिल्ला कर) पापी चण्डगिरी का नाश हो।

पहला नागरिक—वह दुष्ट यदि इस समय मुझे दिखाई दे जाता तो मैं उसका सिर काट डालता।

दूसरा नागरिक—वाह, तुम ऐसे ही तो वीर हो।

पहला ना०—और तुमने मुझे क्या समझ रक्खा है।

दूसरा ना०—एक आदमी।

पहला ना०—(झुँझला कर) मगर मैं तो तुम्हें आदमी भी नहीं समझता।

नागरिकों का नेता—(ज़रा ऊँचे स्थान पर खड़े हो कर) भाइयो, ज़रा शान्त हो जाओ।

(सन्नाटा छा जाता है।)

नेता०—तुम्हें कोई नया समाचार मालूम हुआ ?

तीसरा नागरिक—नहीं, कोई नहीं।

नेता—सम्राट् ने हमें विद्रोही घोषित कर दिया है।

और राजकुमार अशोक हमें दण्ड देने के लिए बहुत शीघ्र तक्षशिला पहुँच रहे हैं।

पहला ना०—मगर क्या वह हमारी कोई बात भी न सुनेंगे।

नेता—हम विद्रोही हैं; हमारी बात कौन सुनेगा।

तीसरा ना०—(चिल्ला कर) तक्षशिला के नागरिको, किसी के सामने मत झुको।

चौथा ना०—(ऊँचे स्वर में) तक्षशिला की स्वाधीनता अमर हो।

सब लोग—(चिल्ला कर) तक्षशिला की स्वाधीनता अमर हो!

नेता—भाइयो, हमारे धैर्य और साहस की परीक्षा का असली मौका अब आया है। यह मत समझ लो कि तक्षशिला के राजप्रासाद को आग लगा कर और पापी चण्डगिरी को भगा कर हमारे कर्तव्य की इतिश्री हो गई। नहीं, कदापि नहीं। चण्डगिरी भाग गया है, मगर वे लोग मौजूद हैं, जिन्होंने चण्डगिरी को चण्डगिरी बनाया था। एक चण्डगिरी चला गया तो उसकी जगह वे दूसरा चण्डगिरी भेज देंगे। नागरिको, अपनी वीरता पर कलंक मत आने दो। उनके हाथ में शक्ति है, राजदण्ड है, सेना है। मगर याद रक्खो, उनकी यह शक्ति हम लोगों की दृढ़ता के सामने चूर-चूर हो जायगी। हम लोग यदि आपस में मिलकर रहेंगे, संगठित रहेंगे, तो सम्राट् की भाड़े की सेना हमारी मातृभूमि की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं कर सकेगी। तक्षशिला की स्वाधीनता अमर रहेगी!

सब लोग—(चिल्ला कर) तक्षशिला का गौरव अमर रहे !

नेता—शाबास, भाइयो ! याद रक्खो, हम लोग तक्षशिला के नागरिक हैं। वह तक्षशिला, जो संसार के ज्ञान का, संसार की विद्या का और संसार के विचारों का केन्द्र है। सम्पूर्ण विश्व आज तक्षशिला के सम्मुख आदर के साथ सिर झुकाता है। हम लोग गर्व के साथ, अपना सिर ऊँचा करके कह सकते हैं कि जो कुछ तक्षशिला सोचता है, वही कुछ सारा संसार सोचने लगता है।

नागरिको, तुम्हारे इसी गरिमाशाली तक्षशिला की स्वाधीनता का अपहरण करने के लिए, पापी और अत्याचारी चण्डगिरी का समर्थन करने के लिए सम्राट् ने अपने उद्दण्ड पुत्र राजकुमार अशोक को भेजा है। अशोक अपनी सेना-सहित शीघ्र ही तक्षशिला पहुँचनेवाला है। बोलो, इस समाचार ने तुम्हें डरा तो नहीं दिया ?

अनेक आवाज़ें—नहीं, कदापि नहीं।

नेता—अशोक दो-चार दिनों में तक्षशिला पहुँच जायगा। तब तुम्हारे साहस की परीक्षा होगी।

(भीड़ में से सैनिक वेशधारी एक विदेशी युवक आगे बढ़कर कहता है।)

विदेशी सैनिक—अशोक तक्षशिला आ पहुँचा है।

नेता—सचमुच !

वि० सैनिक—जी, हाँ !

एक आवाज़—चलो, उस पर हमला करें।

दूसरी आवाज़—अशोक के शिविर को आग लगा दो।

तीसरी आवाज़—पापी चण्डगिरी के पोषक अशोक का सत्यानाश हो !

सब लोग—अशोक का सत्यानाश हो !

चौथी आवाज़—चलो, अभी चलो।

पाँचवीं आवाज़—अशोक की सेना का डेरा किस ओर है ?

छठी आवाज़—उत्तर दिशा में।

सातवीं आवाज़—नहीं, दक्षिण में।

आठवीं आवाज़—नहीं, पश्चिम में।

नौवीं आवाज़—चलो, किसी ओर तो चलो।

सब लोग—चलो, चलो।

[वही विदेशी सैनिक कूद कर एक ऊँचे स्थान पर चढ़ जाता है। और चिल्ला कर कहता है।]

वि० सैनिक—ठहरो !

(सब लोग चौंक कर उसकी ओर देखने लगते हैं।)

वि० सैनिक—तक्षशिला के नागरिको, तुम में से किसी ने अशोक को देखा है ?

(एक क्षण तक सब लोग विस्मय से उसकी ओर देखते रहते हैं, उसके बाद)

एक आवाज़—यह कौन है ?

दूसरी आवाज़—जासूस है !

तीसरी आवाज़—नहीं; यात्री है।

चौथी आवाज़—नहीं; सैनिक है।

पाँचवीं आवाज़—नहीं; विद्यार्थी है।

नेता—तुम कौन हो ?

वि० सैनिक—मैं एक क्षत्रिय हूँ। मगर मेरी बात का जवाब दो कि तुम में से किसी ने अशोक को कभी देखा है ?

नेता—नहीं, किसी ने भी नहीं।

वि० सैनिक—यदि वह तुम्हारे सन्मुख आजाय, तो तुम उसे पहिचान सकोगे ?

नेता—नहीं पहिचान सकेंगे।

वि० सैनिक—तो जिस व्यक्ति को तुमने न देखा है, न पहिचानते हो, उसे तुम अपना दुश्मन किस तरह समझ रहे हो ?

नेता—वह चण्डगिरी की सहायता करने आया है !

वि० सैनिक—यह बात तुम कैसे कह सकते हो ?

(नेता के जवाब देने से पूर्व ही)

एक आवाज़—दुश्मन है !

दूसरी आवाज़—भेदी है !

तीसरी आवाज़—देखना, जाने न पाए।

विदेशी सैनिक—(ऊँचे स्वर मे) चुप हो जाओ। नागरिको, मैं तुम्हें अपना परिचय देता हूँ। मैं ही राजकुमार अशोक हूँ।

[वह अपने कपड़ो मे से राजपट्ट निकाल कर ऊचा कर देता है। सभी नागरिक चकित होकर अशोक की ओर देखने लगते हैं। सदा के स्वभाव से राजपट्ट देखते ही अधिकाश का सिर झुक जाता है।]

अशोक—तक्षशिला के नागरिको, राजकुमार अशोक तुम्हारा अतिथि है। आशा है, तुम अतिथि की बात शान्त-भाव से सुनोगे।

(सब लोग चुप रहते है)

भाइयो, तुम्हारे नेता ने ठीक कहा था। तक्षशिला संसार के विचारों का और संसार की विद्या का केन्द्र है। और तुम लोगों का यह एक महान् गौरव है कि तुम तक्षशिला

के निवासी हो। इस महामहिम राजधानी के निवासियो, तुम सदा इस बात को स्मरण रक्खो कि मगध-साम्राज्य के अधिपति महाराजाधिराज सम्राट् बिन्दुसार को सोते-जागते, उठते-बैठते सदैव तुम्हारे ही कल्याण की चिन्ता रहती है। क्या तुम्हें ज्ञात है कि सम्राट् को, मेरे वृद्ध पिता को, तुम्हारे इस आचरण से कितना क्लेश पहुँचा है? अगर नहीं ज्ञात है, तो मुझसे पूछ देखो। तक्षशिला के निवासियों को वह अपना समझदार पुत्र समझते थे। इस गरिमाशाली नगर के निवासियों के सम्बन्ध में वह कहा करते थे कि संसार के सम्मुख दिखाने को मेरे पास यदि कुछ है तो वह तक्षशिला और उसके निवासी ही हैं।

नागरिको, तुम चण्डगिरी को पापी और अत्याचारी कहते हो। परन्तु सोच कर देखो कि सम्राट् के आदेशों और राज्य के विधानों को तोड़ कर क्या तुमने उतना ही बड़ा अपराध नहीं किया।

नेता—सम्राट् ने चण्डागिरी को पदच्युत क्यों नहीं किया?

पहिला नागरिक—चण्डगिरी अत्याचारी है।

दूसरा नागरिक—चण्डगिरी अनाचारी है।

तीसरा नागरिक—तक्षशिला चण्डागिरी का शासन कभी सहन नहीं करेगा।

अशोक—भाइयो, शान्त होकर मेरी बात सुनो। चण्डगिरी कैसा है, इस सम्बन्ध में मैंने कुछ भी नहीं कहा। उसके आचरण का निर्णय सम्राट् करेंगे। परन्तु मैं तुमसे पूछता हूँ कि तुमने अपने पितृ-तुल्य सम्राट् की अवज्ञा क्यों

की। तुमने एक क्षण के लिए भी यह बात अपने मस्तिष्क में क्यों जमने दी कि मगध-साम्राज्य में रह कर तुम्हारी स्वाधीनता सुरक्षित नहीं रह सकती। भाइयो, तक्षशिला-नगर के धूल की एक-एक कण मेरे लिए तीर्थ के समान पवित्र है। यह नगर मेरे दादा, महान् चन्द्रगुप्त मौर्य की शिक्षा-भूमि है। इसी नगर में रह कर उन्होंने अपने साम्राज्य की, अपने महान् व्यक्तित्व के विकास की नींव डाली थी। क्या तुम उस महापुरुष को भूल गये ! बोलो, बोलो, क्या तुम महान् चन्द्रगुप्त को भूल गए !

सभी नागरिक—(चिल्ला कर) सम्राट् चन्द्रगुप्त का यश अमर रहे !

अशोक—एक बार मिल कर बोलो—मगध-साम्राज्य का यश अमर रहे !

सब नागरिक—मगध-साम्राज्य का यश अमर रहे !

अशोक—शाबाश, भाइयो ! तुमने आज इस गरिमा-शालिनी नगरी की शान रख ली। एक बार और मिलकर यही नाद दिशा-दिशा में गुँजा दो। संसार समझ जाय कि मगध-साम्राज्य का मस्तिष्क आज भी उसी तरह सुरक्षित है।

सब लोग—मगध-साम्राज्य अमर रहे !

राजकुमार अशोक चिरंजीवी हो !

नेता—राजकुमार, आप चण्डगिरी का न्याय विचार कीजिए। मैं उस पर अभियोग उपस्थित करता हूँ।

अशोक—अभियोग उपस्थित करने का स्थान यह नहीं है।

एक नागरिक—तक्षशिला को क्या यह सौभाग्य प्राप्त

नहीं हो सकता कि उस पर किसी राजकुमार का ही शासन रहे।

नेता—राजकुमार, तक्षशिला आपको चाहती है।

सब लोग—(चिल्ला कर) राजकुमार अशोक चिरंजीवी हों।

अशोक—अच्छा भाइयो, यही सही। सम्राट् से आदेश लेकर मैं तक्षशिला को ही अपना केन्द्र बनाऊँगा।

(जनता में हर्षध्वनि होती है)

तीसरा दृश्य

स्थान—पाटलीपुत्र के एक सुरम्य मकान का आँगन।

समय—चाँदनी रात।

[कुमारी शीला हसराज बजा रही है। कुछ देर तक इस वाद्य-यन्त्र को चुपचाप बजाते रहने के बाद वह सहसा गाने लगती है।]

गीत

द्वार-निकट देख सजनि ! कौन गीत गाये
कौन देश बसे, पूछ, आज किधर जाये ?
शिथिल-कण्ठ कौन बात कहे, क्या सुनाये
कोई सुप्त करुण भाव हृदय में छिपाये।
आज इन्दु कर उठाये अवनी ओर आये
बीच खड़ी श्याम रजनी, पलक पथ बिछाये।
दुग्ध-धवल विश्व सकल, व्योम खिल-खिलाये
एक यही बन्धु दीन विकल क्यों दिखाये
किधर अर्घ्य-कुसुम सखी ! पथिक फिर न जाये

खोल द्वार जल्द, आई दिया में जलाये।
अतिथि! चलो भय-विहीन, छिपे क्यों लजाये?
आज गृही द्वार खड़ीं अर्चना सजाये।
देख अलि! निकट-कुञ्ज, जिधर वृक्ष छाये
देख दूर विजन पन्थ कोई दीख पाये?
मौन मार्ग, शून्य दिशा, चरण रव न पाये?
कौन? किधर लीन? हाय, नयन छलछलाये।

(शीला के पिता दीपवर्धन का प्रवेश)

दीप०—शीला!

शीला—(चौंक कर) ओह, पिता जी, आप हैं!

दीप०—और तुमने क्या समझा बेटी?

शीला—मैं समझी पिता जी हैं!

दीप०—(मुस्करा कर) बेटी, कितनी सुहावनी रात है! दूरसे तुम्हारा स्वर सुन कर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे तुम्हारी माता गा रही है। मुझे २५ बरस पहले की एक इसी तरह की चाँदनी रात की याद हो आई; जब मुझ से नाराज़ हो कर वह ठीक इसी स्थान पर आ बैठी थी, और ठीक इसी लय में, इतनी ही निपुणता के साथ, वह इसराज बजाने लगी थी। बेटी, तुम्हें अपनी माँ की याद है क्या?

शीला—(गम्भीर हो जाती है) पिता जी, मेरी माँ भी तुम्हीं हो। मैं इस दुनिया में और किसी को नहीं जानती।

दीप०—शीला, जानती हो, तुम्हारी माँ तुमसे कितना प्यार करती थीं?

शीला—क्यों नहीं पिता जी ! जितना आप मुझ से करते हैं !

दीप०—अभागिनी मातृहीना बच्ची मेरी !

शीला—आज आप इतने अधीर क्यों हो रहे हैं पिताजी?

दीप०—कुछ नहीं बेटी; यों ही कुछ ख़याल आ गया। आख़िर दिल ही तो है।

शीला—क्या बात ख़याल आ गई पिता जी ?

दीप०—यही कि यदि आज तुम्हारी माँ ज़िन्दा होती तो क्या वह मुझे इस बात के लिए बाधित न करती कि तुम्हारा ब्याह कर दिया जाय।

शीला—आज आपको क्या हो रहा है, पिताजी! ब्याह-शादीकी बातें आपको भी इतनी महत्वपूर्ण प्रतीत होती हैं क्या?

दीप०—हाँ बेटी, तुम ने मेरे सवाल का जवाब तो दिया ही नहीं। बताओ, तुम्हें अपनी माँ की याद तो है न ?

शीला—माँ की ? मैं तो तब बहुत छोटी बच्ची ही थी न।

दीप०—उन दिनों तुम्हारा तुतला कर बोलना भी नहीं छूटा था।

शीला—चलो हटो, यह सब मुझे कुछ भी याद नहीं।

दीप०—तुम्हारी माँ सचमुच देवी थी। मुझे कभी-कभी ख्याल हो आता है कि यदि वह ज़िन्दा होती तो तुम्हें देख उसे कितनी प्रसन्नता होती !

(शीला स्थिर भाव से चुपचाप अपने पिता की ओर ताकती रहती है।)

दीप०—मुझे याद है, तुम्हारे सम्बन्ध में वह कहा करती थी, मेरी शीला हमारे कुल के गौरव का कारण बनेगी। वह यदि ज़िन्दा होती तो देखती कि किस तरह

उसकी बेटी आज पाटलीपुत्र का सब से अधिक सुन्दर फूल बन गई है।

शीला—आज आपको क्या हो गया है पिता जी!

(आगे बढ़ कर वह पिता के कन्धे मे अपना मुंह छिपा लेती है।)

दीप०—ओह, तुम तो रोने लगीं शीला! अब मैं समझा, तुम्हें अपनी माँ भूली नहीं है।

शीला—कभी कोई अपनी माता को भी भूल सकता है पिता जी!

दीप०—मगर तुम तो उन दिनों बहुत छोटी थीं।

शीला—इस से क्या हुआ पिता जी! अपने जीवन की जिस सब से पहली पवित्र याद को मैं क़ीमती निधि की तरह अन्दर ही-अन्दर छिपाए हुए हूँ; अठारह बरस बीत जाने पर भी अभी तक जिसके सम्बन्ध में अचानक सपना देख कर मेरी सम्पूर्ण देह पुलकित हो उठती है, उस माता को मैं कभी भूल सकती हूँ।

दीप०—ओह बेटी, अगर मैं सचमुच तुम्हारी माँ की जगह भी पूरी कर सकता!

शीला—हाँ, पिता जी, बताइए, आप दूध पी चुके या नहीं।

[दीपवर्धन अभी कोई बहाना सोच ही रहे होते है कि शीला झट से रसोईघर की ओर चली जाती है।]

शीला—(जाते-जाते) मैं दूध लेकर अभी आई पिता जी!

दीपवर्धन—(आप ही आप) ओह, मनुष्य कितना असमर्थ है। मैंने बरसों तक इस बात का भारी प्रयत्न किया कि शीला अपने को मातृहीना न समझे। मुझ ही में वह

अपनी माँ और बाप दोनों को पा जाए। वह उन दिनों कितनी छोटी, ज़रा-सी ही तो थी। फिर भी मैं अपने उद्योग में सफल न हो सका। ओह, मेरी प्यारी बच्ची के कोमल से हृदय में यह कितना गहरा घाव लगा हुआ है।

(दूध का कटोरा हाथ में लिए हुए शीला का प्रवेश)

शीला—दूध पी लीजिए पिता जी।

दीप०—(कटोरा हाथ में लेकर) ओह, जो बात कहने आया था, वह तो भूल ही गया था। हाँ, शीला, अब के राजप्रासाद के होलिकोत्सव में सम्मिलित होने जाओगी? वहाँ से निमन्त्रण आया है।

शीला—नहीं पिता जी, मैं नहीं जाऊँगी।

दीप०—यह क्या बेटी। इस उम्र में इतनी एकान्त-प्रियता अच्छी नहीं होती।

शीला—इसमें एकान्तप्रियता की बात कौन-सी हुई?

दीप०—और नहीं तो क्या। तुम किसी भी समारोह में जाना पसन्द नहीं करतीं।

(दीपवर्धन के मुँह पर उदासी-सी दिखाई देने लगती है।)

शीला—(पिता की चिन्ता हटाने के लिए वह खुल कर मुस्करा उठती है) वाह, पिता जी, मैं होलिकोत्सव में क्यों नहीं जाऊँगी? आपने भी झट-से मेरी बात पर विश्वास कर लिया। आप बड़े भोले हैं पिता जी!

दीप०—अच्छा बेटी, मुझे ज़रा इसराज बजाकर तो सुनाओ।

[शीला बैठ जाती है और अपने सधे हुए हाथों से बहुत ही करुण और शान्त रागिनी निकालने लगती है।]

चौथा दृश्य

स्थान—पाटलीपुत्र के नगर-भवन के निकट का बाज़ार ।

समय—प्रभात ।

(नगर में होलिकोत्सव मनाया जा रहा है ।)

[बाज़ार को तोरण और पताकाओं से खूब सजाया गया है । बाज़ार में से सैनिकों का जुलूस निकल रहा है । दोनों ओर नागरिकों की भीड़ है । सब लोग सुनियन्त्रित हैं । कहीं गड़बड़ और व्यर्थ का शोरगुल नहीं है । क्रमश: सम्राट् का रथ बाज़ार में आ पहुँचता है । नागरिकों में मानों उत्साह का तूफ़ान आ जाता है ।]

नागरिक—*(तुमुल ध्वनि से)* **सम्राट् चिरजीवी हों !**

[सम्राट् सिर झुका-झुकाकर जनता के इस अभिनन्दन का उत्तर देते जाते हैं । क्रमश: सम्राट् की सवारी पाटलीपुत्र के नगर-भवन के निकट आकर रुक जाती है । भवन के सन्मुख चौड़ी सीढ़ियाँ हैं । उन पर लाल कपड़ा बिछा हुआ है । सम्राट् रथ से उतर कर इन सीढ़ियों से होते हुए सिंहासन पर जा पहुँचते हैं । सब सैनिक पंक्तिबद्ध होकर उन्हें नमस्कार करते है । इसके बाद सम्राट् सैनिकों और जनता को सम्बोधित करते हैं ।]

सम्राट्—मगध साम्राज्य की इस जगत्प्रसिद्ध राजधानी के नागरिको, आज का यह होलिकोत्सव तुम्हारे लिए शुभ हो ।

नागरिक—*(तुमुल स्वर में)* **मगध-साम्राज्य चिरजीवी हो ! सम्राट् चिरजीवी हों !!**

बिन्दुसार—पुत्रो, होली के इस हर्षोत्सव में आज मैं अनुभव कर रहा हूँ कि मेरा हृदय प्रफुल्लित नहीं है । मैं अब बूढ़ा हो गया हूँ, मेरी शक्तियाँ क्षीण पड़ गई है; कह नहीं सकता कि और कब तक मैं आपकी सेवा कर सकूँगा, इसी

से मैं चाहता हूँ कि आज इस शुभ अवसर पर युवराज सुमन को साम्राज्य के प्रधान सहकारी के पद पर नियुक्त करूँ।

[इस के बाद बिन्दुसार सुमन को निकट बुला कर उसके माथे पर तिलक लगाते हैं। सुमन झुक कर अपने पिता को नमस्कार करते हैं।]

जनता—(ऊँचे स्वर में)—

सम्राट् चिरजीवी हों !

युवराज सुमन अमर रहें !

(सम्राट् की सवारी धीरे-धीरे आगे बढ़ जाती है।)

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—पाटलीपुत्र के राजमहलों में गंगा नदी के तट पर युवराज का निवास-स्थान।

समय—सायंकाल।

[युवराज सुमन अकेले खड़े हैं, उनके सम्मुख राजमहल के संगमरमर से जड़े आँगन में विचित्र रंगों से भीगा फ़र्श बरसात के सायंकालीन आकाश के समान दिखाई दे रहा है। चारों ओर से सुगन्ध की लपटें-सी उठ रही हैं, मालूम होता है, थोड़ी ही देर पहले यहाँ सुगन्ध और रंगों की वर्षा की गई है। सुमन एकटक दृष्टि से इस दृश्य को देख रहे हैं।]

सुमन—नारी सौन्दर्य, सरलता और कोमलता का मूर्तिमान स्वरूप है। परन्तु मेरी प्रकृति जैसे इस चीज़ से घबराती है। आज इन लड़कियों ने मिनटों में ही मुझे कितना तंग कर डाला ! मैं बेचारा भाग कर छिप रहने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सका। मेरे

सम्बन्ध में नगर की ये सब कुलीन कुमारियाँ न-जाने क्या सोचती होंगी। आज अगर अशोक यहाँ होता! वह कितना चंचल, क्रियाशील और निपुण है। वह एकसाथ अनेकों को खुश रख सकता है। आज वह होता, तो अकेला ही सबको तंग कर देने के लिए काफ़ी था। और मैं? अच्छा-भला हँसता-खेलता व्यक्ति भी मेरे पास कुछ ही देर बैठ कर गम्भीरता की मनहूस शकल धारण कर लेता है। अपनी-अपनी तबीयत ही तो है। चलूँ, चल कर देखूँ कि ये सब कुमारियाँ मेरे सामान के साथ क्या-क्या उत्पात कर गई हैं।

[सुमन आगे बढ़ कर महल के एक कमरे में पहुँचते हैं। वहाँ वह देखते है कि कमरे का सारा सामान उलटा करके रक्खा हुआ है; यहाँ तक कि कालीन भी उलटी ही बिछी है। कमरे के बीचोंबीच एक उलटी शैया पर सुमन का एक बड़ा चित्र रक्खा हुआ है, इस चित्र के नीचे बड़े सुन्दर अक्षरों में लिखा है—"चुप रहो, मैं सन्नाटा चाहता हूँ!" इसी तरह दो तीन कमरों का चक्कर लगा कर युवराज अपने व्यक्तिगत आलेख्य भवन के निकट पहुँचते हैं।]

सुमन—फिर भी सोचता हूँ कि सस्ते में ही छूट गया। मेरी मज़ाक उड़ानेवाला तो यहाँ कोई है ही नहीं। अशोक तक्षशिला में है और तिश्य तथा चित्रा कामरूप में हैं। पिताजी तो इन बातों में दिलचस्पी लेते ही नहीं। ख़ैर, जाने दो। ज़रा बैठ कर अब आराम करना चाहिए।

[आलेख्य भवन का दरवाजा धीरे से खोलकर अशोक अन्दर चले जाते हैं और अपने गद्देदार उपवेशन के निकट पहुँचकर वहाँ किसी को सोया हुआ देखकर वह चौंक उठते हैं।]

सुमन—हैं ! यह क्या ! यह कौन है ? (ज़रा अच्छी तरह देखकर) **यह तो कोई नारी है ! मेरे खास कमरे में एक महिला इस तरह बेफ़िक्री के साथ सो रही है ! आश्चर्य है !**

[सुमन दबे पाँव धीरे-धीरे बाहर लौटना शुरू करते हैं। उनके चेहरे पर लज्जा की गहरी छाप दिखाई देने लगती है। दरवाज़े के निकट पहुँचते न पहुँचते सहसा उनका हाथ एक तिपाई से जा टकराता है। तिपाई पर पड़ा चाँदी का बड़ा-सा फूलदान अपने अन्दर रक्खे हुए फूलों के बोझ के कारण पहले ही टेढ़ा-सा हो रहा था, इस धक्के से वह उलट कर नीचे गिर पड़ता है और उस कमरे में खन्न-सी एक आवाज गूंज जाती है। युवराज सहसा घबरा जाते हैं।]

सुमन—उफ़ !

[युवराज के जी में आता है कि वह भाग कर कमरे से बाहर निकल जायँ। परन्तु उन्हें दिखाई दे जाता है कि वह महिला जाग कर उठ बैठी है। इस दशा में वहाँ से भाग जाना उन्हें उचित प्रतीत नहीं होता। वह चुपचाप खड़े हो जाते हैं। सहसा वह कुमारी भी खड़ी हो जाती है। उसके चेहरे पर गहरी लज्जा के भाव दिखाई दे रहे हैं।]

सुमन—(साहस करके) **क्षमा कीजिए। मुझे मालूम नहीं था कि इस कमरे में कोई है।**

कुमारी—जी !

(एक क्षण तक तो सुमन को कुछ भी नहीं सूझता कि वह क्या कहे, उसके बाद ज़रा सँभल कर बोला) **सुमन—कहिए, आपको कहाँ पहुँचाने का प्रबन्ध करवा दूँ ?**

कुमारी—(सँभल कर) **मैं आचार्य दीपवर्धन के घर जाऊँगी।**

सुमन—आचार्य दीपवर्धन के घर !

कुमारी—जी हाँ, वही मेरे पिता हैं।

सुमन—मेरा यह सौभाग्य है कि मैं पाटलीपुत्र के गौरव आचार्य दीपवर्धन की एकमात्र कन्या के सम्मुख खड़ा हूँ।

कुमारी—यह सब शोभा की शरारत है युवराज। वह मुझे आप की बहन के कमरे में सोता हुआ छोड़ कर अपने आप खिसक गई!

सुमन—मेरी बहन के कमरे में! आप यह क्या कह रही है! मेरी बहन तो राजकुमार तिश्य के साथ कामरूप गई हुई है।

कुमारी—मगर यह कमरा हो उन्हीं का आलेख्य भवन है न?

सुमन—जी नहीं, यह मेरा व्यक्तिगत आलेख्य भवन है। मगर यह तो बिलकुल मामूली बात है।

कुमारी—(बहुत अधिक लज्जित-सी होकर) मेरी तबीयत कुछ खराब थी। मैं लेटना चाहती थी। शोभा ने मुझसे कहा कि इस कमरे में लेट जाओ; जाते हुए मैं तुम्हें अपने साथ लेती जाऊँगी। थोड़ी ही देर में मुझे नींद आ गई। और उधर शोभा स्वयं तो चली गई, परन्तु मुझे साथ नहीं ले गई। क्षमा कीजिएगा।

सुमन—यह तो बिलकुल सामान्य बात है।

(सुमन ताली बजाता है। एक कर्मचारी का प्रवेश।)

कर्मचारी—आज्ञा कीजिए।

सुमन—मेरा रथ ले आओ।

कर्म०—अभी आया श्रीमन्!

(चला जाता है।)

(युवराज को फिर से कुछ नहीं सूझता कि वह इस अपरिचिता कुमारी से क्या बातचीत करें। अनेक क्षणों तक दोनों चुपचाप खड़े रहते हैं। दोनों की लज्जा बढ़ती जाती है। तब सहसा सुमन कहता है)

सुमन—क्या मैं आपका नाम जान सकता हूँ ?

कुमारी—मेरा नाम भद्रशीला है। (थोड़े-से उत्साह के साथ) **परन्तु इस नाम में से मैंने 'भद्र'-शब्द का बहिष्कार कर रक्खा है।**

सुमन—धन्यवाद ! आइए, गंगा-तट पर खड़े होकर राजमहलों के सूर्यास्त का दृश्य देखिए।

शीला—चलिए !

[दोनों बाहर आकर गंगा-तट पर खड़े हो जाते हैं। साँझ के अस्त हो रहे सूर्य की गुलाबी किरणें शीला के सुन्दर चेहरे पर पड़ती हैं]

सुमन—आप राजमहलों में पहले भी कभी आई हैं ?

शीला—जी नहीं। बचपन समाप्त हो जाने के बाद से मैंने कभी राजमहलों में क़दम नहीं रक्खा।

(शरीर-रक्षक का प्रवेश)

शरीर०—महाराज, रथ तैयार है।

सुमन—अच्छा, जाओ।

(शरीर-रक्षक चला जाता है)

सुमन—आइए; मैं आपको रथ तक पहुँचा आऊँ।

शीला—मैं आपकी आभारी हूँ।

सुमन—मैं कृतार्थ हुआ।

(दोनों बाहर जाते हैं।)

छठा दृश्य

स्थान—कामरूप का एक जंगल।

समय—मध्याह्न।

[राजकुमार तिश्य जगल मे शिकार खेलने आए हैं। उनका मन्त्री, जो एक निपुण शिकारी भी है, साथ है। पसीने से लथपथ राजकुमार अपना घोड़ा पकड़े खड़े हैं। मन्त्री अभी घोड़े पर है।]

राजकुमार—ओह, कितनी गरमी है !

मन्त्री—सारा मज़ा किराकरा हो गया। प्रातःकाल आकाश में इतने बादल दिखाई दे रहे थे कि आज का सारा दिन सुहावना रहने की आशा थी।

राज०—सूरज कितनी प्रखरता के साथ तप रहा है।

मन्त्री—आप पसीने से भीग रहे हैं।

राज०—तुम भी घोड़े से उतर आओ। मेरी इच्छा यहाँ थोड़ी देर आराम करने की है।

मन्त्री—जैसी आपकी आज्ञा। (घोड़े से उतर कर वह दोनों घोड़ों को एक पेड़ के साथ बांध देता है। तब वे समीप के एक पेड़ की घनी छाया में बैठ जाते हैं।)

राज०—आज का दिन ही मनहूस-सा प्रतीत होता है। इतनी दूर तक निकल आए, और कोई शिकार हाथ न लगा।

मन्त्री—वह बारहसिंहा कितना सुन्दर था। अगर उसे पकड़ पाते !

राज०—मैं भूतकाल की बात कभी नहीं सोचता। जो हो गया, सो हो गया। जाने दो।

मन्त्री—बुद्धिमान व्यक्ति सदा भविष्य की सोचा करते हैं।

राज०—नहीं, मैं भविष्य की भी नहीं सोचता। जो होगा, देख लिया जायगा। जो कुछ बाद में होना है, उसके लिए अभी से चिन्ता और सिरदर्दी क्यों की जाय।

मन्त्री—हाँ जी, असली बात तो यही है कि आदमी अपने वर्तमान पर पूरा काबू रक्खे। वर्तमान वश में हो तो न तो भूतकाल की स्मृति सताती है, और न भविष्य के बिगड़ने का भय रहता है।

राज०—नहीं भाई साहब। आपने मुझे ग़लत समझा। मैं वर्तमान की भी चिन्ता नहीं करता। मैं अपनी ओर से कुछ भी करने का प्रयत्न नहीं करता। जो कुछ होता जाता है, उसी से अपने जी को खुश रखने का प्रयत्न करता हूँ।

मन्त्री— जी! और हो भी क्या सकता है।

राज०—सचमुच और कुछ नहीं हो सकता? (खिल-खिला कर हँस पड़ता है।) खैर, इन बातों को जाने दो। बड़ी प्यास मालूम हो रही है।

मन्त्री—मेरी ज़ीन के साथ पानी का बरतन तो बंधा है, मगर वह गरम होगा। यहाँ नज़दीक कोई झरना हो तो वहाँ से पानी ले आऊँ।

राज०—ज़रा तकलीफ़ तो कीजिए।

[मन्त्री बरतन लेकर पानी की तलाश में जाता है। और राजकुमार अपनी बाँसुरी निकाल कर बजाने लगते है। थोड़ी ही देर में चौंक कर वह देखते हैं, कि मन्त्री बड़ी घबराई हुई दशा में बेतहाशा वापस दौड़ा चला आ रहा है।]

राज०—(उछल कर खड़े हो जाने के साथ ही साथ) क्या बात है ?

[मन्त्री बोलने का प्रयत्न करता है, परन्तु भय के कारण उसके मुँह से आवाज ही नहीं निकलती ।]

राज०—कुछ बोलोगे भी, या बेवकूफ़ों की तरह ताकते ही रहोगे । क्या है, शेर ?

मन्त्री—(सिर हिला कर) नहीं ?

राज०—तो और कौन-सी ख़तरे की बात है ? भालू है क्या ?

मन्त्री—नहीं ।

राज०—(झुँझला कर) तो आख़िर है क्या ?

मन्त्री—(बड़े भयपूर्ण स्वर में) कापालिक !

राज०—कापालिक ?

(राजकुमार भी घबरा जाते हैं, मगर मन्त्री की तरह बदहवास नहीं हो जाते)

मन्त्री—जी हाँ ।

राज०—किस जगह ?

मन्त्री—यहाँ से थोड़ी ही दूर पर । उत्तर दिशा में ।

राज०—वह कर क्या रहा है ?

मन्त्री—नरमुण्डों की माला उसके गले में है । एक सड़ी-गली लाश पर बैठ कर वह होम कर रहा है ।

राज०—उसने तुम्हें देखा ?

मन्त्री—ज़रा धीरे-धीरे बोलने की कृपा कीजिए ! (बहुत ही धीरे से) नहीं जी, उसने मुझे नहीं देखा ।

राज०—उसके पास चलोगे ?

मन्त्री—नहीं महाराज ! वहाँ जाकर क्या करेंगे। चलिए, चुपके से लौट चलें।

राज०—तुम्हारी इच्छा न हो तो मैं तुम्हें बाधित नहीं करूँगा। मगर मैं वहाँ अवश्य जाऊँगा।

मन्त्री—आप कापालिक से भी नहीं डरते ?

राज०—डरता क्यों नहीं ? मगर तुम्हारी तरह से नहीं। बचपन से इन कापालिकों के भविष्य-ज्ञान के सम्बन्ध में अजीब-अजीब तरह की बातें सुनता आ रहा हूँ। आज एक कपालिक को देखने का यह मौका पाकर इसे खाली कैसे छोड़ दूँ ?

मन्त्री—सम्राट् के नाम पर मैं आपसे अनुरोध करता हूँ कि आप वहाँ न जाइये।

राज०—अच्छा तुम यहीं, इन घोड़ों के पास ठहरो। मैं वहाँ से होकर अभी वापस आता हूँ।

(मन्त्री के मना करते रहने पर भी राजकुमार उस ओर चले जाते हैं।)

(दृश्य बदलता है)

[एक लाश पर कापालिक पद्मासन मुद्रा में बैठा है। चारो ओर नरमुण्ड तथा हड्डियाँ बिखरी पड़ी हैं। सख्त बदबू आ रही है। फिर भी राजकुमार वहाँ धैर्यपूर्वक खड़े हुए हैं। उन्होंने देखा कि कापालिक अग्नि मे खून और मज्जा की आहुतियाँ दे रहा है। दोपहर की कड़कड़ाती धूप मे भी उसे गर्मी प्रतीत नहीं होती।]

कपालिक—(राजकुमार की ओर देख कर) तुम यहाँ कैसे आए ?

राज०—शिकार के लिए।

कापा०—तुम बिन्दुसार के छोटे पुत्र हो न ?

राज०—जी हाँ।

कापा०—तुम्हारा साथी कहाँ है ?

राज०—वह यहाँ आने से डरता है।

कापा०—(खिलखिला कर हँसने के बाद) उसका डरना ही ठीक है !

राज०—क्यों श्रीमन् !

कापा०—तुम सौभाग्यशाली हो। यदि तुम इस जगह अब से एक घड़ी पहले पहुँच गए होते, अथवा आधी घड़ी बाद पहुँचते तो मैं तुम दोनों का वध करके इसी होम में आहुति दे देता। (विकट हँसी)

राज०—आपकी कृपा चाहिए, श्रीमन्।

कापा०—कहो, क्या चाहते हो ?

राज०—आपका आशीर्वाद।

कापा०—मेरा आशीर्वाद ? आशीर्वाद देना मेरा काम नहीं। यह काम सन्तों का है। कुछ पूछना चाहते हो ?

राज०—जी हाँ, मेरे बड़े भाई साहब का विवाह कब होगा ?

कापा०—उनका विवाह नहीं होगा।

राज०—(घबरा कर) यह क्यों श्रीमन् !

कापा०—यह मत पूछो।

राज०—आप भविष्य बता सकते हैं न !

कापा०—अवश्य।

राज०—कुछ बताने की दया करेंगे।

कापा०—कुछ ही दिनों में तुम्हारे पिता का देहान्त हो जायगा और उसके बाद पाटलीपुत्र में खून की नदियाँ बहेंगी।

राज०—(बहुत अधिक भय के साथ) मेरे देवतास्वरूप बड़े भाई पर तो कोई आपत्ति नहीं आएगी ?

कापा०—यह मत पूछो।

(राजकुमार तिशय भय से काँपने लगते हैं।)

कापा०—बस, अब चले जाओ। तुमने मेरा यह स्थान देख लिया है, इसलिए मैं अपनी अगली तपस्या किसी और जगह जाकर करूँगा। यह तुम्हारा सचमुच सौभाग्य था कि तुम अवध्य घड़ी में मेरे पास पहुँचे।

(राजकुमार प्रणाम करके चल देते हैं।)

कापा०—एक बात सुनो। तुमने अपने सम्बन्ध में तो कुछ पूछा ही नहीं।

राज०—कहिए।

कापा०—तुम जहाँ रहोगे, सदा खुश रहोगे।

राज०—और कुछ ?

कापा०—आज से ६० दिन के अन्दर-अन्दर तुम्हारे मन्त्री का देहान्त हो जायगा। बस, अब चले जाओ।

[राजकुमार उदास भाव से अपने घोड़े की ओर चले जाते हैं। कापालिक अपने होम में न जाने किस चीज़ की पूर्णाहुति करता है, जिससे आग में से चटकती हुई नीली ज्वाला निकलती है। इसके बाद कापालिक इतनी ज़ोर से खिलखिला कर हँस पड़ता है कि उसकी वह भयंकर हँसी पर्वत की सम्पूर्ण उपत्यका में गूँज जाती है।]

सातवाँ दृश्य

स्थान—पाटलीपुत्र का नगर-भवन ।

समय—मध्याह्नपूर्व ।

[नगर में युवराज के वाग्दान की खुशियाँ मनाई जा रही हैं। और नगर भवन के आँगन में सैंकड़ों नागरिक जमा हैं। आचार्य दीपवर्धन भी इसी मजमें में बैठे हैं। नगर भवन की छत पर एक झरोखे से शीला इस भीड़-भाड़ की ओर देख रही है। वह बिलकुल अकेली ऐसी जगह पर बैठी है, जहाँ से वह सबको देख सकती है, परन्तु उसे कोई नहीं देख सकता।]

शीला—मुझे यह क्या हो रहा है। मेरी सारी चेतना को जैसे कोई हरता चला जा रहा है। नागरिकों के ये हर्षनाद, ये निरन्तर मंगलवाद्य, यह सजावट, यह चहल-पहल मुझे उन्मत्त-सी बना रही है। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे मैं आपे में नहीं हूँ। मैं अपनी सुध-बुध खो रही हूँ। मगर इस तरह सुध-बुध खोने में भी कितना मज़ा है। ओह, कितना आनन्द है। सभी ओर पूर्णता-ही-पूर्णता प्रतीत हो रही है। हृदय, वश में रहो। कहीं आपे से बाहर न हो जाना। हे प्रभो, तेरी सृष्टि में इतना सुख भरा हुआ है! सुख की यह कैसी मोहकारी अनुभूति है!

[सहसा सामने के राजमार्ग पर मंगलवाद्य बजाते हुए नागरिकों की एक टोली निकल जाती है। शीला प्रसन्नता से गदगद् हो रहे हृदय के साथ उस टोली की ओर देखती रह जाती है। क्रमशः वह टोली दूर निकल जाती है।]

शीला—(चौंक कर) मेरे पिता जी आज कितने प्रसन्न हैं। वह किस तरह सभी के साथ खूब हँस-हँस कर बातें कर रहे हैं। मैं ने आज तक उन्हें इतना प्रसन्न

कभी नहीं देखा।'' मैं सचमुच कितनी सौभाग्य-शालिनी हूँ। मेरी सहेलियाँ मुझे कहती हैं, तुम इस मगध महा-साम्राज्य की भावी साम्राज्ञी हो। ओह, सचमुच यह कितना बड़ा सन्मान है। बचपन में राजा रानी की कहानियाँ सुन कर कितनी ही बार रानी बनने को जी चाहा है। मगर कभी यह स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि मैं किसी दिन अनायास ही इस महासाम्राज्य की साम्राज्ञी बन सकूँगी।

और वे? यह सम्पूर्ण साम्राज्य उनके व्यक्तित्व के सम्मुख तुच्छ है! आहा, मैं सचमुच अनन्त सौभाग्य-शालिनी हूँ। प्रभो, मेरा यह सुख, यह महासौभाग्य क्या संसार सहन कर सकेगा? वह कितने महान् हैं और मैं उनकी तुलना में कितनी तुच्छ, कितनी नगण्य हूँ। मेरी सखियाँ कहती हैं कि तुम्हारे समान रूपवती कन्या सारे पाटलीपुत्र में दूसरी नहीं है। मगर उनकी तुलना में मेरा यह सौन्दर्य किसी भी क़ीमत का नहीं है। मैं चाहती हूँ कि मैं इसकी अपेक्षा भी सैकड़ों गुणा अधिक सुन्दरी होती और अपना वह सारा सौन्दर्य अपने इस देवता के चरणों पर न्योछावर कर देती। मेरे देवता! ओह, क्या तुम सच-मुच मेरे हो! प्रभो, यह कितना अपार हर्ष है!

[सहसा दीपवर्धन का प्रवेश। वह चुपचाप पीछे से आकर शीला की आँखे बन्द कर लेते है।]

शीला—(चौंक कर) पिता जी!

दीप०—उँह, इतनी जल्दी पहचान लिया! सब मज़ा किरकिरा हो गया। अच्छा तो जनाब, यहाँ अकेले में क्या हो रहा है?

शीला—मेरी सहेलियाँ मुझे तंग करती थीं, छेड़ती थीं, इससे मैं अकेली यहाँ आ बैठ गई।

दीप०—अभी से तुमने साम्राज्ञियों के ठाठबाट शुरू कर दिए। देखो न, द्वार पर चार शरीररक्षिकाएँ खड़ी पहरा दे रही हैं। किसी को अन्दर नहीं आने देतीं।

शीला—फिर आप अन्दर कैसे आगए?

दीप०—आखिर मैं भी तो साम्राज्ञी का पिता हूँ।

शीला—हटिए, मैं आपके साथ नहीं बोलूँगी।

दीप०—वाह, वाह; अभी से यह हाल है।

शीला—(अपने पिता के कन्धों से लिपट कर) आप तो मुझे नहीं छोड़ेंगे न, पिता जी!

दीप०—(दुखी से स्वर में) यह क्या कहती हो बेटी?

शीला—पिता जी! (मुँह छिपा लेती है) मैं आपसे कभी जुदा नहीं हो सकती!

दीप०—पिता का हृदय तुम जानती हो शीला। फिर मैं तो तुम्हारी माता की जगह भी था। तुम्हें छोड़ कर मेरे पास और है ही क्या? जानती हो बेटी, मेरे हृदय में दो विभिन्न भावों के तूफ़ान उठ खड़े हुए हैं। एक अनुभूति आग की लपटों के समान गरम है तो दूसरी वर्षा की बौछारों के समान शीतल। हे विधाता, पिता को तुमने यह कैसा हृदय दिया है। (एक क्षण रुक कर) अपने इस बूढ़े बाप को भुला तो नहीं दोगी बेटी?

शीला—आप यह कैसी बातें करते हैं पिता जी!

दीप०—अच्छा शीला, एक बात का जवाब मुझे सच-सच देना। युवराज को तुम पसन्द करती हो?

शीला—यह बात भी कहने की आवश्यकता है पिता जी !

दीप०—तो बस बेटी, मैं समझता हूँ कि मेरा जन्म सफल हो गया । हे ईश्वर, यह कितना तीव्र सुख है (प्रायः साथ ही साथ) और सन्तान वियोग की यह कैसी तीखी-सी जलन है !

[इसी समय शीला की ५, ६ सहेलियाँ वहाँ आ उपस्थित होती हैं । शोर-गुल और चहल-पहल मच जाती है ।]

पटाक्षेप

दूसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान—वैशाली प्रान्त में आचार्य उपगुप्त का आश्रम ।

समय—प्रभात ।

[कुछ बौद्ध-भिक्षु गा रहे हैं, एक अन्धा बालक भी इन भिक्षुओं में है । आचार्य उपगुप्त शान्त भाव से यह संगीत सुन रहे हैं ।]

गीत

खोल बन्धु ! हृदय-द्वार, प्रेम किरण आई,
आज स्वर्ग-सदृश भुवन दिव्य ज्योति छाई ।
चिर प्रबुद्ध शक्ति एक ज्ञान दीप लाई
गमन-पंथ देख मनुज, देख कूप खाई ।
द्वेष दम्भ निरत हाय, आयु सब गँवाई,
देख तनिक दया दान—प्रेम की निकाई ।
व्यर्थ विषय जग प्रपंच करो कुछ भलाई,
कौन ऊँच जगत बीच, नीच कौन भाई,
मिटी मोह निशा, आज उषा मुसकिराई
कनक रुचिर पूर्व-लोक प्रकृति जगमगाई ।
धन्य शाक्य मुनि उदार दया जिन्हें आई
प्रेम करुण शान्तिमयी त्रिपथगा बहाई ।
स्नान करो तीर्थ सलिल हे अजान भाई,
मिटें दुःख-ताप-त्रिविध हटे कलुष-काई ।

उपगुप्त—(अन्धे बालक से) मेरे निकट आओ बेटा !

(बालक को आचार्य उपगुप्त के समीप ले आया जाता है।)

उपगुप्त—वत्स, तुम्हारा यहाँ जी लगा या नहीं ?

बालक—मेरे साथी मेरे साथ बड़ा अच्छा व्यवहार करते हैं।

उपगुप्त—तुम्हारा स्वर बड़ा मधुर है। संगीत का अभ्यास करोगे ?

बालक—जैसे आपकी आज्ञा पिता जी !

उपगुप्त—तुम्हें अपने माँ-बाप की याद है ?

बालक—मैं अनाथ हूँ भगवन् । अपनी माता की मुझे याद है, परन्तु उनसे बिछुड़े भी अब बहुत समय हो गया।

उपगुप्त—(बालक के सिर पर हाथ रख कर) इस आश्रम को अपना घर समझो और हम सब को अपना बन्धु-बान्धव।

(एक भिक्षु का प्रवेश)

भिक्षु—(प्रणाम कर के) भगवन्, पुष्पपुर के बौद्ध-विहार के प्रधान भिक्षु का दूत आया है।

उपगुप्त—पुष्पपुर से ? पुष्पपुर तो यहाँ से ८०० योजन होगा। पुष्पपुर से दूत आया है ?

भिक्षु—जी हाँ, श्रीमन् ! वह इसी समय आपके दर्शन करना चाहता है।

उपगुप्त—उन्हें सम्मान के साथ यहाँ ले आओ। मगर ठहरो, मैं स्वयं चल कर उनका स्वागत करता हूँ।

(भिक्षु के साथ उपगुप्त का प्रस्थान)

एक गायक—(अंधे बालक से) यह तुम्हारा महान् सौभाग्य है कि आचार्य की तुम पर कृपा है। तुम्हारा जन्म सफल हो जायगा।

दूसरा गायक—आचार्य की कृपा किस पर नहीं है ?

प० गा०—मगर तुम शायद इस अन्धे बालक की कहानी नहीं जानते। यह बे-माँ-बाप का बालक समीप के एक गाँव में भीख माँग कर अपना निर्वाह किया करता था, कुछ ही दिन पहले की बात है कि इसे अचानक चेचक निकल आई। किसी ग्रामवासी ने इसकी खोज-खबर नहीं ली! तब आचार्य जी इसके रोगी देह को स्वयं अपने कन्धों पर उठा कर आश्रम में ले आए। यहाँ उन्होंने इसकी चिकित्सा में दिन-रात एक कर दिया। तब जाकर यह बालक बच पाया है। नहीं तो सब वैद्य जवाब दे ही चुके थे। चेचक से इसकी आँखें जाती रहीं, परन्तु इसका जीवन बच गया।

[सहसा उस बालक की अन्धी आँखों मे कृतज्ञता के दो आँसू चमक आते हैं। इसी समय आचार्य उपगुप्त पुष्पपुर के दूत के साथ वहाँ प्रवेश करते हैं। बालक की आँखों में आँसू देख कर वह बड़े स्नेह के साथ उसके सिर पर हाथ रख कर पूछते हैं।]

उपगुप्त—बेटा; यह क्या ? तुम्हारी आँखों में आँसू क्यों भर आए ?

बालक—(आचार्य के चरणों पर सिर झुका कर) कुछ नहीं पिता जी !

उपगुप्त—अच्छा पुत्रो, तुम लोग अब जाओ।

(सबका प्रस्थान)

उपगुप्त—आपका साहस धन्य है।

दूत—यह सब आपकी कृपा का फल है।

उपगुप्त—मार्ग में कोई तकलीफ़ तो नहीं हुई ?

दूत—जी नहीं, कोई कष्ट नहीं हुआ।

उपगुप्त—स्थविर महोदय ने क्या सन्देश भेजा है, यह मैं जान सकता हूँ ?

दूत—वह सन्देश तो आप ही के लिए है भगवन् !

उपगुप्त—आप कोई चिट्ठी लाए हैं ?

दूत—जी नहीं, स्थविर महोदय ने चिट्ठी लिख कर भेजना सुरक्षित नहीं समझा, कुछ ऐसी ही बात थी। हाँ, विश्वासपात्रता सिद्ध करने के लिए यह पट्ट मैं अपने साथ लाया हूँ।

पट्ट दिखाता है)

उपगुप्त—मैं जानता हूँ कि आप विश्वासपात्र हैं। कहिए, क्या बात है।

दूत—भगवन्, पुष्पपुर का क्षत्रप बौद्ध-संघ पर भयंकर अत्याचार कर रहा है। सम्राट् की आज्ञा के प्रतिकूल हम लोगों के साथ वहाँ शत्रुओं के समान व्यवहार किया जाता है।

उपगुप्त—तुमने पाटलीपुत्र तक अपनी शिकायत नहीं भेजी ?

दूत—क्यों नहीं भगवन्, परन्तु हमारी कहीं सुनाई नहीं होती। क्षत्रप पाटलीपुत्र में प्रति सप्ताह अपने प्रान्त के जो समाचार भेजता है, उनमें लिख देता है कि बौद्ध-संघ विद्रोहियों की संस्था है। इन लोगों में चोर, डाकू और

छिपे अपराधियों का प्राधान्य है। इस पर भी सिर्फ़ सम्राट् के भय से ही वह केन्द्रिय बौद्ध-संघ से किसी तरह की कैफ़ियत अभी तक नहीं ले सका। परन्तु इसका यह परिणाम अवश्य हुआ है कि हम लोगों की कहीं सुनाई नहीं होती।

उपगुप्त—संघ स्थविर का क्या विचार है?

दूत—(कुछ घबरा कर) यही बात तो वास्तव में गोपनीय है आचार्य !

उपगुप्त—घबराओ नहीं। यहाँ और कोई तुम्हारी बात नहीं सुन रहा।

दूत—(धीरे-धीरे) उनका विचार है कि जब हमें विद्रोही समझा ही जा रहा है, तो क्यों न हम सचमुच विद्रोह का झण्डा खड़ा कर ही दें। इस राज्य से सुशासन प्राप्त करने का उपाय ही यही है। तक्षशिलावालों ने विद्रोह किया था, परिणाम यह हुआ कि आज तक्षशिला साम्राज्य का सबसे अधिक सुशासित और सुखी प्रान्त बना हुआ है। हम लोग भी विद्रोह करेंगे। जो कुछ होगा, देखा जायगा।

उपगुप्त—तो मेरे पास किस उद्देश्य से आए हो?

दूत—आचार्य, आप बौद्ध-धर्म के महा-नायक हैं। आपकी अनुमति और सहायता के बिना हम लोग यह दुस्साध्य कार्य कैसे कर सकते हैं?

उपगुप्त—देखो भाई, मेरी राय में तो इससे बढ़ कर बुरा काम दूसरा हो ही नहीं सकता?

दूत—(चौंक कर) यह आप क्यों कहते हैं भगवन् !

उपगुप्त—मुझे आश्चर्य है कि स्थविर महोदय को यह बात सूझी ही किस तरह; और उससे भी बढ़कर आश्चर्य

इस बात का है कि इस कार्य में मुझसे सहायता प्राप्त करने की आशा उन्हें कैसे हुई ?

दूत—फिर आपकी क्या राय है आचार्य ?

उपगुप्त—मेरी तो एक ही राय है। आप लोगों को भगवान् तथागत के आदेशों पर चलना चाहिए।

दूत—वह क्या ?

उपगुप्त—वह यही कि लड़ना-भिड़ना भिक्षुओं का काम नहीं है। यह काम नागरिकों का है। भिक्षु का कर्तव्य है कि वह कभी किसी भी दशा में किसी से नाराज़ न हो। जिन परिस्थितियों में उसे रक्खा जाय, वह अपने को उन्हीं परिस्थितियों के अनुकूल बना ले।

दूत—तो भगवन्, आप क्या करने को कहते हैं ?

उपगुप्त—मेरी राय में आप लोगों पर जो अत्याचार हो रहे हैं, उन्हें सहन करके भी लोक-सेवा का कार्य जारी रखना ही आपका एकमात्र कर्तव्य है।

दूत—आचार्य, क्षत्रप के सैनिक भिक्षुओं का अपमान करते हैं।

उपगुप्त—उन्हें, वे जैसा चाहें, करने दो।

दूत—आचार्य, क्षत्रप बौद्धों का बहिष्कार कर रहा है।

उपगुप्त—अपने को कभी बहिष्कृत मत समझो, तब कोई तुम्हारा बहिष्कार न कर सकेगा।

दूत—आचार्य, क्षत्रप ने अनेक बौद्ध-आराम गिरवा दिए हैं।

उपगुप्त—इसकी परवाह मत करो।

दूत—तो फिर, आखिर करें क्या ?

उपगुप्त—भगवान् बुद्ध के आदेशों का पालन।

दूत—वह किस तरह?

उपगुप्त—अच्छा; तुम्हीं बताओ कि तुमने ये पीत वस्त्र क्यों धारण किए हैं?

दूत—अपने कल्याण तथा लोक का उपकार करने के लिए।

उपगुप्त—किस 'लोक' का उपकार करने के लिए?

दूत—यही सम्पूर्ण प्राणी जगत।

उपगुप्त—तुम्हारे इस 'लोक' में वे लोग भी तो शामिल है न, जिन्हें तुम अपना शत्रु समझ रहे हो?

दूत—जी हाँ, भगवान्।

उपगुप्त—तो उनका वध करके तुम उनका उपकार कैसे करोगे?

दूत—यह तो आपत्काल का प्रश्न है प्रभो!

उपगुप्त—आपत्काल! हाँ, तुम ठीक कहते हो। भगवान् तथागत के अनुयायियों पर आपत्काल आ रहा है। मैं देख रहा हूँ कि राजकुमार अशोक की शक्ति तथा अधिकार-लोलुपता बढ़ रही है और बौद्धों पर उसका असीम क्रोध है। परन्तु इस दशा में भी तुम्हें क्षमा और सहन-शीलता का मार्ग अवलम्बन करके विरोधी के हृदय को जीतना होगा। भिक्षु के लिए एकमात्र यही मार्ग है।

दूत—जो आपकी आज्ञा!

उपगुप्त—जाओ, स्थविर महोदय से कह दो, वह आदर्श भिक्षु बन कर दिखाएँ। उन पर जो अत्याचार होते

हैं, उन्हें सहन करें और मनुष्य-मात्र के लिए अपने हृदय में स्नेह और दया के भाव रक्खें।

दूत—जैसी आपकी आज्ञा श्रीमन्!

उपगुप्त—चलो, तुम्हें विश्राम-गृह तक पहुँचा आऊँ।

(दोनों का प्रस्थान)

दूसरा दृश्य

स्थान—गंगा नदी का शाही घाट।

समय—साँझ।

(युवराज सुमन राजवैद्य के साथ खड़े होकर बातें कर रहे हैं। प्रतीत होता है कि बात-चीत में घूमते-घामते वह यहाँ आ पहुँचे हैं।)

युव०—आपका क्या विचार है?

वैद्य—मैं निश्चय के साथ कुछ नहीं कह सकता।

युव०—पिता जी अब के इतना घबरा क्यों गए हैं?

वैद्य—यही तो सबसे बड़ी कठिनता है।

युव०—मैंने आज तक उन्हें इतना हताश कभी नहीं देखा। इससे पहले भी तो वह अनेक बार बीमार पड़ चुके हैं।

वैद्य—युवराज, सच बात तो यह है कि आसार अच्छे नहीं हैं।

युव०—यदि आप कहें तो और वैद्यों की भी राय ले ली जाय।

वैद्य—मैं स्वयं आपसे यही कहने वाला था।

युव०—अच्छा तो आज रात को मैं इस कार्य के लिए चिकित्सकों की एक उपसमिति नियुक्त कर दूँगा।

वैद्य—एक आवश्यक बात यह है कि सम्राट् के सम्मुख अब कोई ऐसी बात नहीं करनी चाहिए, जिससे उन्हें किसी भी तरह की चिन्ता हो जाने का सन्देह हो। यह हृद्-रोग है। इसमें रोगी की परिचर्या विशेष सावधानता के साथ करनी पड़ती है।

युव०—आपके आदेशों का पालन पूर्णरूप से किया जायगा। आप बता सकेंगे कि सूर्यास्त में अब कितना समय बाकी होगा?

वैद्य—करीब १५ मिनट।

युव०—अच्छा तो अब आप जा सकते हैं।

वैद्य—जी महाराज।

(प्रणाम करके प्रस्थान)

[युवराज सीढ़ियाँ उतर कर नदी के जल के निकट जा बैठते हैं। नदी का तरंगित जल उछल-उछल कर सीढ़ियों को भिगो रहा है। रह-रहकर युवराज पर भी उसके छींटे पड़ने लगते हैं।]

युव०—मैंने उसे यही तो समय दिया था, और इसी घाट पर आने के लिए कहलवाया था। वह आ ही रही होगी। यह क्या, पश्चिम दिशा से बादलों की वह सेना बड़ी शीघ्रता से सम्पूर्ण आकाश पर अधिकार करती चली आ रही है। मालूम होता है, आँधी आएगी है।

[इसी समय घाट के ऊपर शीला दिखाई देती है। लज्जा से उसका सुन्दर चेहरा लाल हो उठा है। घाट तक पहुँच कर वह चुपचाप खड़ी हो जाती है।]

युव०—इधर आ जाओ शीला!

(शीला धीरे-धीरे आगे बढ़कर युवराज को प्रणाम करती है)

युव०—(प्रणाम का जवाब देकर) मैंने तुम्हें एक ख़ास उद्देश्य से यहाँ बुलाया था।

शीला—कहिए।

युव०—तुम्हें पिता जी की बीमारी का समाचार तो ज्ञात है न!

शीला—मगर सुना है कि वह बीमारी मामूली-सी है।

युव०—नहीं शीला, वैद्यों की राय ऐसी नहीं है।

शीला—(ज़रा चिन्ता के साथ) अच्छा!

युव०—मैं चाहता था कि सम्राट् की सेवा-सुश्रुशा का भार तुम्हीं अपने कन्धों पर ले लो।

शीला—इसे मैं अपना परम सौभाग्य समझूँगी।

युव०—परन्तु इससे पूर्व क्या यह आवश्यक नहीं होगा कि हम दोनों का विवाह हो जाय?

शीला—जैसा आप उचित समझें।

युव०—परन्तु पिता जी यह कैसे स्वीकार करेंगे कि इस विवाह में धूमधाम ज़रा भी न की जाय।

शीला—उनसे पूछ देखिए।

(हवा तेज़ होकर चलने लगती है।)

युव०—मालूम होता है, अभी तेज़ आँधी आयगी।

शीला—जी हाँ। (क्षण-भर रुककर) मेरी राय में क्या इन दिनों बहन चित्रा को यहाँ बुला लेना उचित न होगा?

युव०—बिलकुल ठीक है। मैं कल ही उन्हें सन्देश भिजवा दूँगा।

(सहसा आँधी बड़े वेग से चलने लगती है।)

सुमन—(शीघ्रता के साथ खड़े हो कर) शीला ! चलो, अन्दर चलें।

शीला—चलिए !

(आँधी का वेग और भी अधिक हो जाता है। कहीं कुछ भी दिखाई नहीं देता।)

सुमन—शीला !

शीला—युवराज !

युव०—तुम कहाँ हो ? मुझे कुछ भी दिखाई नहीं देता।

शीला—आर्य ! प्राणनाथ !! तुम कहाँ हो ?

[उस गाढ़ अन्धकार में दो छायामूर्त्तियाँ-सी राजमहल की ओर बढ़ती हुई दिखाई देती हैं।]

तीसरा दृश्य

स्थान—तक्षशिला का राजमहल।

समय—रात्रि का पहला प्रहर।

[अशोक की पत्नी रानी तिशी (तिश्य रक्षिता) महल के फाटक के निकट ही संगमरमर के ऊँचे चबूतरे पर कोहनी टेक कर खड़ी है। उसकी दृष्टि फाटक की ओर है।]

तिशी—नहीं आए; अभी तक नहीं आए। घण्टों से मैं उनकी प्रतीक्षा में हूँ। आज सारा दिन वह इस ओर नहीं आए। जी चाहता है, वह हर-समय मेरे पास बैठे रहें, वह कभी मेरी नज़रों से ओझल न हों। मगर नहीं, उन्हें हज़ारों काम रहते हैं। वह मेरी तरह निठल्ले तो नहीं हैं। हम स्त्रियों की जाति भी कितनी स्वार्थी है। वह ठीक ही तो कहते हैं, तुम स्त्रियों को कुछ भी करना नहीं आता।

मगर मैं क्या करूँ, मेरा जी नहीं मानता। देखती हूँ, संध्या होते-न-होते मेरे बाग़ की मालिन की कुटिया में जब चूल्हा जलने लगता है, उसका माली भी वहीं आकर बैठ जाता है। जी में आता है, क्या कभी हमारा जीवन भी इतना निश्चिन्त और इतना सुखी हो सकेगा जब उनके सन्मुख सिर्फ़ मैं ही-मैं होऊँगी और कोई चिन्ता न होगी, कोई कर्तव्य न होगा।

[इसी समय राजमहल की दीवार के बाहर से गाने का मधुर स्वर सुनाई पड़ता है। परन्तु उसी समय—]

पहरेदार—कौन गा रहा है ?

(दो भिक्षु निकट आ जाते हैं।)

पहरेदार—तुम्हें मालूम नहीं कि यह राजमहल है और यहाँ शोर मचाना मना है।

भिक्षु—जी नहीं। हम परदेसी हैं।

पहरे०—अच्छा, तो ज़रा मेहरबानी करके यहाँ से दूर चले जाओ।

रानी—(ज़रा ऊँची आवाज़ से) पहरेदार! इन्हें अन्दर आने दो।

पहरेदार—जो आज्ञा! (भिक्षुओं से) अन्दर आ जाइए। आपको महारानी ने बुलाया है।

(दोनों भिक्षु रानी के निकट आकर उन्हें प्रणाम करते हैं।)

रानी—तुम लोग कहाँ से आ रहे हो ?

भिक्षु—पाटलीपुत्र से।

रानी—कहाँ जाओगे ?

भिक्षु—पुष्पपुर।

रानी—तुम्हारा स्वर बड़ा मधुर है भिक्षुओ। क्या मुझे

फिर से वही गीत सुना सकोगे, जो तुम लोग बाहर गा रहे थे ?

भिक्षु—हमारा काम ही यही है महारानी !

(दोनों भिक्षु इकतार के साथ गाते हैं)

गीत

नदी के किनारे खड़ा किसका घर है,
पड़ा नींद में कौन तू बेख़बर है।
अरे बसने वाले, ज़रा झाँक बाहर,
बही जा रही नीर-सम यह उमर है।
जरा की उदासी न यौवन का मद है,
न जीवन के ढलने की तुझको फ़िकर है।
पड़ा रह अनोखे मुसाफ़िर मज़े में,
तुझे साथ मेरे न चलना उधर है।
यह निश्चन्द्र रजनी सहम कर खड़ी है,
न जाने कहाँ घाटी रस्ता किधर है ?
घिरे मेघ बिजली तड़पने लगी है,
उठा कैसा तूफ़ान—कैसी लहर है !!
प्रलय खेल में लीन आकाश-धरती,
सुलगता हृदय किन्तु मेरा इधर है।
इसी द्वन्द को लाँघ कर मैं चलूँगा,
न मुझको हिचक है, किसी का न डर है।
तनिक बाल दो दीप उस पार आकर,
न मेरे निकट फिर प्रलय है, भँवर है।

रानी—आहा, कितना मधुर तुम्हारा यह संगीत है। एक बार ज़रा फिर से तो सुनाओ।

[दोनों भिक्षु फिर से वही गाना शुरू ही करते है कि इतने में राजकुमार अशोक वहाँ आ जाते है।]

अशोक—बस, चुप हो जाओ!

(दोनों भिक्षु घबरा कर चुप रह जाते है। रानी भी सहसा पीड़ित-सी हो उठती है।)

अशोक—(भिक्षुओं से) तुम्हें यहाँ आने किसने दिया?

रानी—मैंने ही इन्हें अपने पास बुला लिया था। आज रात ये लोग राजमहल में ही रहेंगे।

अशोक—पहरेदार!

पहरेदार—(समीप आकर) आज्ञा कीजिए!

अशोक—इन्हें विश्रामगृह में ले जाओ।

(दोनों भिक्षुओं का घबराई हुई-सी दशा में पहरेदार के साथ प्रस्थान)

रानी—इनका गीत बड़ा मधुर और बड़ा करुण है स्वामिन्।

अशोक—मैं इन बौद्ध भिक्षुओं से घृणा करता हूँ तिशी!

रानी—वह क्यों मेरे नाथ?

अशोक—निठल्ले कहीं के, दुनिया-भर को निष्कर्मण्यता का पाठ पढ़ाते फिरते हैं। मेरा बस चले तो इनका सड़कों पर इस तरह गाते फिरना बन्द ही कर दूँ।

रानी—नाथ, आज आप सारा दिन कहाँ रहे?

अशोक—आज काम ज़रा ज्यादः था। हाँ तिशी, तुम्हें पाटलीपुत्र का समाचार मिला।

रानी—कोई नया समाचार तो मैं ने नहीं सुना।

अशोक—सम्राट् बीमार हैं।

रानी—ओ हो!

अशोक—और वैद्यों की राय है कि उनकी दशा चिन्ताजनक है।

(रानी के मुंह पर गहरी चिन्ता के भाव दिखाई देने लगते हैं।)

अशोक—कुछ समझ में नहीं आता कि भविष्य में क्या होगा।

रानी—सम्राट् की सेवा-सुश्रुशा के लिए मुझे पाटलीपुत्र भिजवा दीजिए। राजकुमारी चित्रा भी तो आजकल पाटलीपुत्र में नहीं है।

अशोक—तुम लोगों को मोह और व्यर्थ की चिन्ता के अतिरिक्त और कुछ नहीं सूझता। जानती हो, मैं क्या सोच रहा हूँ?

रानी—(उदास भाव से) नहीं।

अशोक—मैं सोचता हूँ, सुमन बड़ा सौभाग्यशाली है कि वह इन दिनों पाटलीपुत्र में है।

रानी—हाँ, इसमें तो सन्देह नहीं। उन्हें पिता जी की सेवा करने का यह अवसर मिलेगा।

अशोक—इस लिए नहीं तिशी! मगर इस लिए कि यदि सम्राट् का देहान्त हो गया तो पाटलीपुत्र की राजगद्दी पर वह अपना अधिकार कर लेगा।

रानी—(उत्तेजनापूर्ण घबराहट के साथ) इसमें अनौचित्य ही क्या होगा नाथ! आख़िर साम्राज्य के युवराज भी तो वही हैं।

अशोक—मैं यह सब कुछ नहीं मानता। सिर्फ़ इस दुनिया में कुछ समय पहले आ जाने के कारण वह तो सम्राट् बन जाय और मैं राज्य-संचालन की योग्यता में उसकी अपेक्षा कई गुणा अधिक निपुण होते हुए भी सारी उम्र उसकी नौकरी बजाऊँ, यह मुझे सहन न होगा।

रानी—यह पाप विचार छोड़ दो प्यारे!

अशोक—मुझे तुम से पहले भी यही उम्मीद थी। क्या तुम सचमुच साम्राज्ञी बनना नहीं चाहतीं?

रानी—मुझे तो सिर्फ़ तुम्हारे हृदय का साम्राज्य चाहिए मेरे नाथ!

अशोक—यह कैसी कायरता है! तुम लोगों की इसी भीरुता के कारण ही तो स्त्री-जाति बदनाम है।

रानी—मेरी विनती सुनो मेरे नाथ; हम लोग यहाँ तक्षशिला में क्या कुछ कम प्रसन्न हैं? इस से अधिक हमें और क्या चाहिए।

अशोक—बेवकूफ़ न बनो, इन चीज़ों में दखल देना तुम्हारा काम नहीं है। अच्छा, मुझे ज़रा एक काम से जाना है।

(प्रस्थान।)

रानी—नाथ, मेरे प्यारे, सुनो। मेरी एक बात सुनो।

(अशोक तेज़ी से बढ़ता चला जाता है।)

चौथा दृश्य

स्थान—पाटलीपुत्र के राजमहलों में चित्रा का कमरा।

समय—मध्याह्न-पूर्व।

[चित्रा अपने कमरे में बैठा हुई शीला के आने का प्रतीक्षा कर रही है। उसकी प्रधान रक्षिका वहीं मौजूद है।]

चित्रा—शीला अभी तक नहीं आई! ज़रा किसी और को तो उनके पास भेजना।

रक्षिका—इसी थोड़े-से समय में आप एक-एक कर ५ दासियों को उनके पास भेज चुकी हैं। अब एक और को भेजने से क्या लाभ होगा राजकुमारी!

चित्रा—फिर वह अभी तक आई क्यों नहीं? इसके बाद मुझे पिता जी के पास सेवा-कार्य के लिए जाना है। तुम स्वयं वहाँ क्यों नहीं चली जातीं?

रक्षिका—आपको यह हो क्या गया है राजकुमारी! आज प्रातः ही आप इतना लम्बा सफ़र करके यहाँ पहुँचीं हैं। आते ही आप सम्राट् के पास चली गईं। वहाँ से लौटीं तो अब यह धुन सवार हो गई है। आप ज़रा नहा-धोकर कुछ आराम तो कर लीजिए।

चित्रा—मेरे जी की दशा तुम क्या समझोगी। ओहो, तुम्हें नहीं मालूम, जब मैंने कामरूप में सुना था कि मेरे भाई की सगाई हो गई है, तब जी में आया था कि मेरे पंख क्यों न हुए, जिनकी मदद से मैं उड़ कर पाटलीपुत्र पहुँच जाती और अपनी भावी भाभी का मुँह देख पाती। मेरे भाई साहब को तुम नहीं पहचानती। वह मनुष्य नहीं, देवता हैं। मेरा ख़याल था कि उनके योग्य नारी इस पृथिवी

पर कोई नहीं होगी। ज़रा देखूँ तो वह कौन सौभाग्य-वती कुमारी है, जिसे मेरे भाई के हृदय का स्नेह प्राप्त हुआ है।

(शीला का प्रवेश)

रत्तिका—(आगे बढ़ कर) आप ही.........

चित्रा—(बीच ही में) तुम्हें परिचय देने की आवश्य-कता नहीं है। तुम बाहर जाओ।

[चित्रा आगे बढ़ कर शीला का हाथ पकड़ लेती है। एक क्षण तक वह पूरी तन्मयता के साथ शीला का मुँह देखती रहती है। इसके बाद वह उसे गले से लगा लेती है। चित्रा की आँखो मे आनन्द के आँसू भर आते हैं।]

चित्रा—(अर्ध-स्वगत) तुम! तुम! तुम! ठीक है, तुम मेरे भाई के लिए उपयुक्त जीवन-सहचरी सिद्ध होगी। तुम उनको प्रसन्न रख सकोगी।

शीला—आप आज ही आ रही है?

चित्रा—देखो बहन, मुझे आप मत कहो। वह मुझ से बड़े हैं, और तुम मुझ से छोटी हो, इस लिए मैं तुम्हें अपने बराबर का ही समझूँगी। मुझे तुम अपनी बराबर की बहन समझो।

[शीला का हृदय प्रसन्नता से गद्गद हो जाता है, वह चित्रा का हाथ कस कर पकड़ लेती है।]

शीला—यह मेरा परम सौभाग्य है दीदी!

चित्रा—हाँ, वह भी ठीक है। देखो बहन, तुम बड़ी निठुर हो। मैं जब से आई हूँ, तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूँ और तुम इतनी देर करके पहुँची।

शीला—इसमें मेरा कुछ कसूर नहीं है दीदी। तुम्हारे आने की बात मुझे मालूम ही न थी। पिता जी के पास हो आई हैं आप?

चित्रा—हाँ, आते ही मैं उनके पास गई थी। मुझ से तो राजवैद्य ने यही कहा है कि चिन्ता की कोई बात नहीं। अच्छा, तुम एक बात का जवाब दोगी?

शीला—पूछो!

चित्रा—मगर जवाब एकदम बिना कुछ भी सोचे-समझे दे देना होगा। तुम एक क्षण भी रुक गईं अथवा तुमने सोच कर जवाब देने का प्रयत्न किया तो वह अपशकुन हो जायगा। समझीं न?

शीला—मैं एकदम जवाब दे दूँगी।

चित्रा—अच्छा बताओ, पिता जी की इस बीमारी में कोई ख़तरा तो नहीं है?

(इस प्रश्न का उत्तर शीला एकदम नहीं दे पाती।)

शीला—(दो-तीन क्षणों के बाद) मेरा खयाल है कि......

चित्रा—(बीच में रोक कर) बस, अब जवाब देने की ज़रूरत नहीं रही।

[दोनों का दिल धड़कने लगता है और कुछ क्षणों तक दोनों चुपचाप बैठी रहती हैं।]

चित्रा—(बात बदलने की इच्छा से) देखो न, भाई साहब में अभी से कितना अन्तर आ गया है। मुझसे कहा करते थे कि मैं तुम्हें छोड़कर दुनिया में और किसी को नहीं जानता। और आज, मुझे पाटलीपुत्र आए एक पहर बीत गया और जनाब ने अभी तक दर्शन ही नहीं दिए।

शीला—अच्छा बहन, बताओ, तुम उन्हें इस बात की क्या सज़ा दोगी ?

चित्रा—क्यों अभी से सज़ा देने के ढंग भी सीख लेने की इच्छा है ? (मुसकराहट)

शीला—(ज़रा लज्जित-सी होकर) आखिर वह बहन ही के तो भाई हैं ?

चित्रा—अच्छा बहन, एक बात बताना । वह तुम्हें कितना चाहते हैं ?

शीला—(लज्जित होकर सिर झुका लेती है ।)

चित्रा—जुग-जुग जिओ बहन ! तुम दोनों एक दूसरे को पाकर परम सौभाग्यशाली बनो ।

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—सम्राट् बिन्दुसार का महल ।

समय—रात के तीन बजे ।

[सम्राट् बिन्दुसार पहली साँझ से बेहोश पड़े हैं । पास ही राजवैद्य महोदय उनकी नाड़ी पकड़े बैठे हैं । एक तरफ युवराज सुमन खड़े हुए हैं । दूसरी ओर बहुत ही उदास भाव से चित्रा बैठी है । सब ओर सन्नाटा है । सभी दरवाजों पर रक्षकों का पहरा है ।]

राजवैद्य—(नाड़ी टटोल कर) नाड़ी की गति अब बढ़ गई है ।

सुमन—(धीरे से) इसका क्या अभिप्राय है ?

वैद्य—सम्भवतः शीघ्र ही सम्राट् की बेहोशी टूट जायगी । परन्तु इस समय बहुत ही सतर्क रहने की आवश्यकता है ।

[सहसा सम्राट् धीरे-धीरे करवट बदलते हैं। तब चित्रा और युवराज दोनों उठ कर खड़े हो जाते हैं।]

सम्राट्—(बेहोशी में ही) बेटा सुमन !

सुमन—जी पिता जी !

सम्राट्—(बेहोशी में ही) ना सुमन, ज़िद मत करो ! मेरी बात मान जाओ बेटा ! मेरे साथ चल कर क्या करोगे। तुम यहीं रहो ! तुम मत जाओ !

सुमन—पिता जी मैं आपके पास ही हूँ।

सम्राट्—(सहसा होश में आकर जरा चकित और बहुत ही कमजोर दृष्टि से दो-एक क्षणों तक सुमन और चित्रा की ओर चुपचाप देखते रहते हैं। इसके बाद, बहुत ही धीमे स्वर में वह कहते हैं।) मैं जा रहा हूँ, सुमन !

सुमन—(अपनी रुलाई को जबरदस्ती रोक कर) नहीं पिता जी ! हम लोग आपके पास हैं !

सम्राट्—अशोक ! तिष्य !—वे दोनों कहाँ हैं ?

सुमन—वे भी शीघ्र यहाँ पहुँच जायँगे पिता जी !

सम्राट्—अशोक से नाराज़ न होना बेटा; वह जन्म हो से ज़रा तेज़ तबियत का है।

सुमन—अब तबियत कैसी है पिता जी ?

सम्राट्—बस अब सब समाप्त हो जायगा।

[युवराज बरदाश्त नहीं कर सकते। कहीं रुलाई फूट न पड़े, इस भय से पीछे हट जाते हैं।]

चित्रा—पिता जी !

सम्राट्—(धीरे-धीरे आँखें घुमा कर) हाँ बेटी !

चित्रा—बहुत तकलीफ़ मालूम हो रही है क्या ?

सम्राट्—नहीं बेटी।...अपना हाथ तो ज़रा इधर लाओ।

[चित्रा अपना दाहिना हाथ सम्राट् के हाथ के पास ले जाती है। सम्राट् धीरे से उसे पकड़ लेते हैं।]

सम्राट्—मेरे पीछे उदास न होना चित्रा !

(चित्रा की रुलाई फूटना चाहती है, मगर वह सहन किए रहती है।)

चित्रा—पिता जी, आप ज़रूर अच्छे हो जायँगे !

(सम्राट् के मुँह पर फीकी-सी मुसकान दिखाई देती है।)

वैद्यराज—(चित्रा को लक्ष करके धीरे-से) **सम्राट् से बात-चीत न कीजिए राजकुमारी !**

[चित्रा घुटने टेक कर वहीं बैठ जाती है। एक क्षण सन्नाटा रहता है। उसके बाद सम्राट् की मुट्ठी ढीली पड़ जाती है। उनके गले में से घरघराहट की तीखी-सी आवाज़ सुनाई देने लगती है। सब लोग घबरा जाते हैं।]

वैद्यराज—युवराज, अब कोई आशा प्रतीत नहीं होती।

सम्राट्—(सहसा अस्पष्ट-सी आवाज़ में गुनगुना उठते हैं) **मैं आया पिता जी !...अशोक...तिश्य...सुमन...चित्रा !...**

[इसके बाद वह जैसे दिल-ही-दिल में कुछ गुनगुनाते रहते हैं। उनकी नाड़ी वैद्यराज के हाथों में है। क्रमश: सन्नाटा छा जाता है]

वैद्य०—बस, सब समाप्त हो गया !

[चित्रा दहाड़ें मार कर रो उठती है, युवराज सम्राट के चरणों पर सिर रख कर रोने लगते हैं। सम्राट् का शरीर राजकीय झण्डे से ढक दिया जाता है।]

दृश्य परिवर्तन

[पाटलीपुत्र का एक सामान्य दृश्य। नगर में सन्नाटा छाया हुआ है। सभी जगह काले झण्डे उड़ रहे हैं। नागरिकों ने भी काले वस्त्र पहन रक्खे हैं। राजमहलों के आस-पास हजारों नागरिक जमा हैं। बाजार बन्द हैं। सारा नगर शोक-मग्न दिखाई दे रहा है।]

छठा दृश्य

स्थान—गण्डक नदी का किनारा।

समय—रात का पहला प्रहर।

[नदी के किनारे राजकुमार अशोक की सेना का डेरा लगा हुआ है। एक तम्बू मे अशोक के सेनापति चण्डगिरी तथा अन्य सहायक मन्त्रणा के लिए एकत्रित हैं। बाहर सख्त आँधी चल रही है। अशोक इसी आँधी में अपने तम्बू के बाहर धीरे-धीरे अकेले टहल रहे हैं। गण्डक नदी के पानी में बड़ी-बड़ी लहरें उठ रही है। दूर पर, अशोक के सैनिक नदी पर पुल बाँधने मे व्यस्त हैं। वे सब मिल कर एक गीत गा रहे हैं, जिस की आवाज़ हवा से उड़-उड़कर कभी ऊँचे और कभी धीमे रूप में अशोक के कानो मे पहुँच रही है।]

गीत

सुनो वीर ! बजती रणभेरी, करती दूर तुम्हें आह्वान
चलो विजय-लक्ष्मी वर लावें, प्राप्त करें वैभव-धन-मान।

स्तब्ध विश्व है निशा अँधेरी
वन - पर्वत - नगरी सुनसान,
यही समय है शत्रु शिविर पर
जा बरसें बन कर तूफ़ान।
किधर विघ्न है ? बाधा कैसी ?
अड़ता प्रलय मेघ से कौन ??
सैन्य सिन्धु के महावेग को
विश्व देख ले होकर मौन।
मार्ग हमारा रोक सके क्या
क्षुद्र गण्डकी की यह धार

इसे बाँधना कौन कठिन है
आज पाट दें सिन्धु अपार।
विजय लाभ या आत्मार्पण है
सैनिक जीवन का इतिहास
अमर कीर्त्ति रचने का वीरो
आ पहुँचा है अवसर पास।

अशोक—(आप-ही-आप) गीत रुक गया! जैसे चलते-चलते नदी की धार रुक जाय! मैं अभी तक यही देख रहा था कि मेरे सैनिकों में कितना उत्साह है। वे आँधी, वर्षा, तूफ़ान किसी की परवाह नहीं करते। मेरा जी कहता है, मुझे विजय अवश्य प्राप्त होगी। चलूँ, ज़रा तम्बू के अन्दर चलकर देखूँ, मेरे सहायकों की क्या राय है।

[अशोक अन्दर जाकर अपने स्थान पर बैठ जाते हैं। सब लोग खड़े होकर उनका स्वागत करते हैं।]

अशोक—चण्डगिरी, तुम्हारा क्या ख्याल है; रात-ही-रात में गण्डक नदी पर पुल बाँध लिया जायगा?

चण्डगिरी—मुझे इसका पूरा विश्वास है राजकुमार!

अशोक—मैं अभी-अभी बाहर खड़े रह कर अपने सैनिकों का उत्साहपूर्ण गीत सुन रहा था। उनका उत्साह देख कर सहसा मुझे एक बात का ध्यान हो आया और मैंने अनुभव किया कि मेरे अन्तस्तल में से रुलाई ज़बर-दस्ती फूटना चाहती है!

चण्डगिरी—(साश्चर्य) वह क्या बात थी महाराज?

अशोक—बात कुछ नहीं, यों ही कुछ भावुकता-सी थी। मुझे खयाल आया, सीमाप्रान्त के इन कद्दावर और हृष्ट-पुष्ट सैनिकों पर पिता जी को कितना गर्व था। उन्हें कभी स्वप्न में भी उमीद न होगी कि उनके ये विश्वासपात्र सैनिक कभी उनके बड़े पुत्र के खिलाफ़ ही अस्त्र लेकर युद्ध करने आएँगे।

[चण्डगिरी खिलखिला कर हस पड़ता है और अशोक उसकी ओर माश्चर्य देखने लगता है।]

चण्डगिरी—बस इतनी ही बात थी मालिक! आप भी तो सम्राट् के पुत्र हैं। तक्षशिला के वीर सैनिक अब भी तो सम्राट् के योग्यतम पुत्र के इशारे पर जान तक देने को तैयार हैं।

अशोक—चण्डगिरी, युवराज को मुझ पर अगाध विश्वास है। तुमने उनका वह पत्र नहीं पढ़ा, जिसमें उन्होंने सम्राट् के देहान्त का समाचार देकर मुझे पाटलीपुत्र चले आने को लिखा है। उस पत्र का एक-एक अक्षर मेरे प्रति गहरे प्रेम और विश्वास में डूबा हुआ है और,—और कहते हुए कुछ लज्जा-सी प्रतीत होती है, उसी पत्र पर बहन चित्रा ने भी दो-चार पंक्तियाँ लिखी हैं। ओह, मेरी बहन कितने सरल हृदय की है।

चण्डगिरी—यही सब तो आशा के चिह्न हैं महाराज! आप अपने भाई पर अत्याचार करने तो नहीं चले। आप चले हैं, साम्राज्य के हित की खातिर। हृदय के उत्साह को मसल देनेवाली इस थोथी भावुकता को जी से निकाल कर ज़रा सोचिए तो! आप अपने पिता के साम्राज्य को संसार

का सब से बड़ा और सब से अधिक सुशासित महा-साम्राज्य बना देने की पुण्य महत्वाकांक्षा से पाटलीपुत्र पर आक्रमण करने चले हैं। भाई और बहन के भावों का सम्मान करना कुछ बुरी बात नहीं है। परन्तु मुझे मालूम है, उन पर किसी तरह का अत्याचार करने की आपकी ज़रा भी इच्छा नहीं है। आप तो सिर्फ़ साम्राज्य की बाग-डोर अपने हाथ में लेने चले हैं। और वह भी पूर्णतया साम्राज्य के हितों के ख्याल से ही।

अशोक—ठीक कहते हो चण्डगिरी। मैं अपने भाई को काश्मीर भेज दूँगा और आजन्म उनकी सेवा करूँगा। मगर साम्राज्य के हित की दृष्टि से मुझे पाटलीपुत्र पर अधिकार तो करना ही होगा।

चण्डगिरी—यही बात आपको शोभा देती है राज-कुमार!

अशोक—तुम मनुष्य नहीं दानव हो चण्डगिरी!

चण्डगिरी—मगर मेरा सारा दानवपन आपके चरणों पर न्यौछावर है, महाराज!

(अशोक फीका-सा मुस्करा कर चुप रह जाता है।)

चण्डगिरी—आपने तक्षशिला के नागरिकों के क्रोध से मेरी रक्षा की है। मैं आजन्म आपका गुलाम बन कर रहूँगा महाराज!

अशोक—प्रातःकाल प्रस्थान के लिए सब लोग तैयार रहो

चण्डगिरी—यहाँ से पाटलीपुत्र पहुँचने में सिर्फ़ ३ दिन बाकी हैं। और आज से चौथे दिन आप मगध-साम्राज्य के सम्राट् होंगे राजकुमार!

अशोक—बीच-बीच भावुकता मुझे अपना शिकार बना लेती है। चण्डागिरी, मैं आशा करता हूँ कि तुम्हारे ऐसा दानव सदा मुझे भावुकता के आक्रमण से बचा लिया करेगा।

चण्डागिरी—(जरा मुस्करा कर) आप इस ओर निश्चिन्त रहें राजकुमार!

अशोक—अब आप लोग जा सकते हैं।

(सब का प्रस्थान)

सातवाँ दृश्य

स्थान—कामरूप की राजधानी।

समय—मध्याह्नोत्तर।

[राजकुमार तिश्य बहुत ही उद्विग्न भाव से एक ही जगह के आस-पास टहल रहे हैं और पाटलीपुत्र से आए हुए दूत के साथ, जो पत्थर की मूर्ति के समान निश्चल होकर खड़ा है, बातचीत कर रहे हैं।]

तिश्य—तो फिर?

दूत—युवराज अपने इस आग्रह पर डटे ही रहे कि वह अपने भाई के साथ युद्ध नहीं करेंगे। यहाँ तक कि राजकुमारी चित्रा ने भी उन्हें युद्ध के लिए प्रेरित किया, मगर उन्होंने उस की भी एक न सुनी।

तिश्य—और अशोक?

दूत—राजकुमार अशोक पाटलीपुत्र के चारों ओर घेरा डाल कर पड़े हुए थे। नगर के सभी द्वार बन्द थे। नागरिकों में इतना गहरा रोष था कि वह रोष पाटलीपुत्र के इतिहास में अदृष्टपूर्व है। पाटलीपुत्र के नगर-भवन के सन्मुख राजकुमार अशोक की जो प्रस्तर-मूर्ति है, उस

पर उस एक रात में कम से कम एक लाख जूते पड़े होंगे। उस मूर्ति का नाक-मुँह सभी कुछ जूतों की इस निरन्तर मार से घिस गया है।

तिश्य—आखिर युवराज करते क्या रहे ?

दूत—उन्हें जब मालूम हुआ कि नागरिक राजकुमार अशोक की प्रस्तर-मूर्ति का यह अपमान कर रहे हैं, तो स्वयं उस स्थान पर पहुँच कर उन्होंने अपने शरीररक्षकों को उस मूर्ति की रक्षा के लिए नियुक्त कर दिया।

तिश्य—इसके बाद ?

दूत—इसके बाद उन्हों ने भग्न हृदय के साथ पाटलीपुत्र के नगर भवन के सामने एकत्र हुई हज़ारों नागरिकों की भीड़ से कहा—"भाइयो, आप लोग जब अशोक की मूर्ति का अपमान करते हैं, तो मेरा अपमान करते हैं। आप लोग मेरी बात मानिए और नगर के द्वार खोल दीजिए।"

तिश्य—यहाँ तक ? ओहो !

दूत—युवराज की यह बात सुनकर पाटलीपुत्र के हज़ारों नागरिकों की भीड़ बच्चों की वह तरह फुफकारकर रो उठी !

तिश्य—(आँसू पोंछ कर) इसके बाद ?

दूत—इस पर नगर-समिति के अध्यक्ष ने रोते-रोते युवराज से कहा—"महाराज, यह हम से न होगा। हम लोगों के प्राण चले जायँ, मगर हम अशोक के स्वागत में नगर के फाटक कभी न खोल सकेंगे।"

तिश्य—शाबास नागरिको ! तब ?

दूत—तब, युवराज ने स्वयं जाकर अपने शरीररक्षकों की सहायता से नगर के द्वार खोल दिए ! और तब अशोक

की सेना नगर में घुस आई। पाटलीपुत्र के नवयुवक गुस्से से दाँत पीसने लगे; नागरिक सिसकियाँ भरने लगे और महिलाएँ चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगीं। सभी ओर मातम छा गया। मगर युवराज का लिहाज़ करके किसी ने अशोक के ख़िलाफ़ अस्त्र नहीं उठाया। अशोक के सैनिकों ने अनायास ही सम्पूर्ण नगर पर कब्ज़ा कर लिया।

तिश्य—युवराज तुम देवता हो! (दूत से) युवराज अब कहाँ हैं?

दूत—राजमहल के राजकीय कारागार में।

तिश्य—युवराज और कैद में! ज़मीन तू फट क्यों नहीं जाती? आकाश! तुम्हारा वज्र किधर है? मगध-साम्राज्य के नागरिको! तुम्हारा खून क्यों नहीं खौल उठता? आज संसार की सबसे बड़ी विभूति, मेरे दादा महान् चन्द्रगुप्त मौर्य का सबसे बड़ा पोता, इस महा-साम्राज्य का एकमात्र उत्तराधिकारी जेल में पड़ा है और सारा संसार उसी तरह शान्त-भाव से चला जा रहा है; जैसे कुछ हुआ ही न हो!……हे प्रभो

[आवेश से राजकुमार का सारा शरीर काँपने लगता है और उन्हें शीघ्र ही मूर्छा आ जाती है।]

दूत—कोई है?

(एक रक्षक का प्रवेश)

रक्षक—आज्ञा कीजिए!

दूत—राजकुमार को सँभालो।

[अनेक रक्षक आकर राजकुमार के शरीर को सँभाल लेते हैं। इसी समय वैद्य भी आ पहुँचते हैं।]

पटाक्षेप

तीसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान—पाटलीपुत्र का राजकीय बन्दीगृह।

समय—प्रभात।

[बन्दी-गृह मे युवराज सुमन चुप-चाप बैठे कुछ सोच रहे हैं।
द्वार पर पहरेदार धीरे-धीरे चक्कर लगा रहा है।]

सुमन—आख़िर यह दिन देखना भी भाग्य में बदा था! अशोक, निष्ठुरता के बीज तो तुम में बचपन से ही थे, परन्तु तुम यहाँ तक बढ़ जाओगे, इसकी कल्पना किसी को नहीं थी। (सहसा एक हूक-सी, मानो ज़बरदस्ती, उनके अन्तस्तल से उठ खड़ी होती है और वह गहरी साँस लेते हैं) अशोक, तुम ने मेरा दिल तोड़ दिया है! मैं कष्ट की परवा नहीं करता। राज सिंहासन को मनोविनोद और ऐश-आराम का साधन मैं ने एक दिन के लिए भी नहीं समझा। जेल की पराधीनता भी मैं सहन कर सकता हूँ। परन्तु तुम्हारी निष्ठुरता! उफ़, यह कितनी तीव्र वेदना है। (सहसा उनकी निगाह पहरेदार पर पड़ती है) आज सम्पूर्ण पाटलीपुत्र सीमाप्रान्त के कद्दावर सैनिकों की देख रेख में है। यह लम्बा-चौड़ा पहरेदार! मगर हमारे सैनिक क्या इनका मुकाबला नहीं कर सकते थे? पाटलीपुत्र की सुशिक्षित सेना का सामना संसार के और किसी देश की सेना नहीं कर सकती। परन्तु मैंने तो युद्ध की नौबत ही नहीं आने दी। क्या मैंने यह ठीक

किया ?···हाँ, मेरा अन्तःकरण कहता है, मैंने ठीक किया। बड़ा भाई होकर छोटे भाई पर हाथ उठाता ! वह सम्राट् बनना चाहता है, उसे सम्राट् बन जाने दो !···मगर देखो अशोक, तुम ने इस तरह आक्रमण करके मेरा दिल क्यों तोड़ दिया ? तुम नहीं जानते, मैं कितनी उत्सुकता से तुम्हारे आने की प्रतीक्षा कर रहा था।···ज़रा इस पहरेदार से ही बातचीत करूँ। आदमी तो कुछ बुरा प्रतीत नहीं होता।

सुमन—पहरेदार।

पहरे०—(रुक कर) हजूर !

सुमन—ज़रा बात तो सुनो।

पहरे०—(नजदीक आकर) हुक्म कीजिए।

सुमन—तुम्हारा घर कहाँ है ?

पहरे०—मुझे अपने घर के सम्बन्ध में कुछ भी मालूम नहीं हजूर।

सुमन—तुम्हारा बचपन कहाँ बीता ?

पहरे०—तक्षशिला के अनाथगृह में।

सुमन—तुमने कभी सम्राट् बिन्दुसार को देखा था ?

पहरे०—(सम्राट् का नाम सुनकर वह शीघ्रता से तलवार शिरस्त्राण से छुआ कर सम्मान प्रदर्शित करता है।) जी हाँ !

सुमन—कहाँ ?

पहरे०—जब वह तक्षशिला का निरीक्षण करने आए थे। तब मैं अभी बालक ही था।

सुमन—कभी पहले भी पाटलीपुत्र आए हो ?

पहरे०—जी नहीं।

सुमन—तुम्हें यह नगर पसन्द आया ?

पहरे०—अभी तो कुछ देखा ही नहीं हजूर ! मगर कुछ अच्छा असर नहीं पड़ा।

सुमन—क्यों ?

पहरे०—यहाँ के सैनिक कुछ भीरु प्रतीत होते हैं युवराज !

सुमन—क्यों कि वे तुम लोगों से डर गए थे ?

पहरे०—यह तो मैं नहीं कह सकता। मगर असर कुछ ऐसा ही पड़ा है !

[सुमन सहसा गम्भीर हो जाते हैं। जैसे इस उजड्ड अशिक्षित पहरेदार ने उनके अन्त:करण को चोट पहुँचाई हो। युवराज को चुप देख कर पहरेदार फिर से अपने घूमने की कसरत शुरू कर देता है।]

सुमन—(स्वगत) सुमन! सुन लिया। तुम्हारे भ्रातृ-प्रेम की कैसी सुन्दर व्याख्या सीमा-प्रान्त के इस अशिक्षित सैनिक ने की है। ये सब लोग मुझे कितना कायर समझ रहे होंगे !

[चण्डगिरी का प्रवेश। पहरेदार तलवार शिरस्त्राण से छुआ कर उसे नमस्कार करता है।]

चण्डगिरी—सब ठीक है ?

पहरे०—ठीक है, हजूर।

[युवराज को चण्डगिरी की शकल कुछ परिचित-सी तो प्रतीत होती है, मगर वह उसे पहचान नहीं पाते। इसी समय चण्डगिरी निकट आकर सैनिक ढंग से उन्हें नमस्कार करता है।]

सुमन—तुम कौन हो ?

चण्ड०—जी ! मेरा नाम चण्डगिरी है।

सुमन—ओह, चण्डगिरी ! तुम में बड़ा परिवर्तन आगया है !

चण्ड०—जी, सारी दुनिया में ही परिवर्तन आता रहता है !

सुमन—देखो, अशोक को मेरे पास भेज सकोगे ?

चण्ड०—कह नहीं सकता। मैं उनकी सेवा में निवेदन अवश्य कर दूँगा।

सुमन—तुम साम्राज्य के सेनापति नियुक्त हुए हो ?

चण्ड०—जी !

सुमन—नगर में कहीं विद्रोह तो नहीं हुआ चण्डगिरी ?

चण्ड०—जी नहीं। सब जगह पूरी शान्ति है।

सुमन—नागरिकों में असन्तोष नहीं है ?

चण्ड०—जी, मालूम तो बिलकुल नहीं होता !

(सुमन चुपचाप कुछ सोचने लगते हैं।)

चण्ड०—जी, आपको यहाँ कोई कष्ट तो नहीं ?

सुमन—नहीं।

(सैनिक ढंग से प्रणाम करके प्रस्थान)

सुमन—(स्वगत) पाटलीपुत्र में पूर्णतः शान्ति है, इस समाचार से मुझे खुशी होनी चाहिए अथवा रंज ! कुछ समझ नहीं आता। मैं इधर जेल में पड़ा हूँ। सीमाप्रान्त के सैनिक मुझे और पाटलीपुत्र के सैनिकों को कायर समझ रहे हैं। नगर में पूरी शान्ति है। अशोक ने अपना मन्त्रि-मण्डल बना लिया है। साम्राज्य का काम उसी तरह चला जा रहा है। इस सब के बीच तुम्हारी भी क्या कोई जगह है सुमन ! हे ईश्वर ! तुम ने ऐसा दिल दिया था तो मुझे अशोक का बड़ा भाई ही क्यों बना दिया।

(युवराज की आँखों में आँसू भर आते हैं।)

दूसरा दृश्य

स्थान—आचार्य्य दीपवर्धन का मकान।

समय—मध्याह्न-पूर्व।

[आचार्य्य दीपवर्धन बीमार पड़े हैं। रह-रहकर उन्हें प्रलाप मूर्छा आजाती है। शीला उनके सिरहाने बैठी है।]

दीप०—(*मूर्छित दशा में बड़ी घृणा-व्यंजक हँसी हँस कर*) हाँ, अब माफ़ी माँगता है, खूनी कहीं के! मैंने पहले ही कहा था, एक दिन तू मेरे सामने गिड़गिड़ा कर माफ़ी माँगेगा; और मैं तुझे माफ़ नहीं करूँगा। खड़ा रह पापी, अधम, कायर, लुटेरा, खूनी! तू पाटलीपुत्र के मगध-साम्राज्य का स्वामी बन बैठा था! अशोक...हः-हः-हः...अशोक! तेरा नाम 'अशोक' किस बेवकूफ़ ने रख दिया था। ठहर जा, तुझे तेरे कर्मों की पूरी सज़ा दूँगा लुटेरे!

शीला—पिता जी! पिता जी!

दीप०—(*होश में आकर*) क्या है बेटी! मैंने अभी एक बड़ा सुख का सपना देखा है शीला। मैंने देखा, पाटलीपुत्र के नागरिकों ने अशोक को गिरफ़्तार कर लिया है। क्या अशोक सचमुच पकड़ लिया गया है?

शीला—नहीं पिता जी। वह आपका सपना था। आप अराम कीजिए। इन बातों की चिन्ता भुला दीजिए।

दीप—भुला दूँ! ये सब बातें भुला दूँ! बेटी, मैं सब समझता हूँ। तेरे जी में शोक का जो तेज़ तूफ़ान चल रहा है, उसे मैं खूब अच्छी तरह समझता हूँ। मगर बेटी, तुम धैर्य रक्खो। मैं अच्छा होते ही पाटलीपुत्र के नागरिकों में

वह उत्साह फूँक दूँगा कि अत्याचारी अशोक उनके क्रोध की आग में एक ही दिन में भस्म हो जायगा।

शीला—पिता जी, मैं बहुत अच्छी तरह से हूँ। आप इन बातों की चिन्ता भुला दीजिए।

दीप—(सहसा उठ कर बैठ जाते हैं) तू सच-सच कह दे, क्या तुझे यह भारी शोक अन्दर-ही-अन्दर से तिल-तिल करके भस्म नहीं कर रहा! नहीं बेटी, तेरा चेहरा साफ़ कहे देता है कि तेरे दिल की क्या हालत है! बेटी, धैर्य रखना। परमात्मा इतना अत्याचार कभी सहन नहीं करेगा।

शीला—आप इतनी चिन्ता क्यों करते हैं पिता जी! यह तो होता ही रहता है। आखिर वे दोनों सगे भाई हैं। राजकुमार अशोक उनके दुश्मन नहीं हैं। गद्दी पर एक भाई न सही तो दूसरा ही सही। अशोक उन्हें किसी किस्म की तकलीफ़ न पहुँचाएँगे।

दीप०—मेरा जी नहीं मानता बेटी! मेरे सामने बड़े भयङ्कर-भयङ्कर चित्र खिंच जाते हैं। ज़रूर कोई भारी अनर्थ होने वाला है।

(वैद्य का प्रवेश)

वैद्य—(दीपवर्धन की परीक्षा करके) यह आकस्मिक आघात का परिणाम है। आप चिन्ता न करें। मैं अभी नींद की दवाई देता हूँ, जो तत्काल अपना प्रभाव दिखाएगी। नींद आपके लिए बड़ी लाभकर सिद्ध होगी।

दीप०—मैं कोई दवाई नहीं खाऊँगा। मुझे अब जीने की इच्छा नहीं है वैद्य जी।

[सहसा दीपवर्धन की निगाह शीला के चेहरे पर पड़ती है, वह अनुभव करते हैं कि उनकी इस बात से शीला को ठेस पहुँची है। अतः वह शीघ्रता से अपनी बात बदल देते हैं।]

दीप०—नहीं वैद्य जी। आप दवाई दीजिए, मैं खुशी से इसका सेवन करूँगा।

(वैद्य जी दवाई पिलाते हैं और दीपवर्धन को तत्काल गहरी नींद आजाती है।)

वैद्य—(शीला से) आचार्य जी के स्वास्थ्य का बहुत अधिक ध्यान रखने की आवश्यकता है, राजकुमारी। उन की दशा सचमुच चिन्ताजनक है।

शीला०—अगली दवा कब दी जावेगी ?

वैद्य—शाम को। मैं उस समय पुनः इन्हें देखने आऊँगा।

(प्रस्थान)

शीला—(दीप के कपड़े ठीक करते हुए स्वगत) मैं सब समझती हूँ पिता जी! मेरे दुख ने आप का दिल तोड़ दिया है! ओह, मैं कितना चाहती हूँ कि आपसे अपने दिल के दुख को छिपाए रक्खूँ। इसी से मैंने एक वार भी अपनी आँखों में आँसू तक नहीं आने दिए। मगर आप सब समझते हैं पिता जी! ओह, मैं अभागी क्या करूँ? अशोक, अशोक, तुम कितने निठुर हो!

तीसरा दृश्य

स्थान—पाटलीपुत्र का राजमहल।

समय—सायंकाल।

[महल के बाहर पाटलीपुत्र के क्रुद्ध नागरिकों की एक बहुत बड़ी भीड़ जमा है। फाटकों पर सशस्त्र सैनिकों का पहरा है। कोई अन्दर आ-जा नहीं सकता।]

एक नागरिक—(ऊँचे स्वर में) पाटलीपुत्र के नागरिको, तुम्हें ज्ञात है कि अत्याचारी अशोक ने युवराज को कैद में डाल रक्खा है !

पहली आवाज़—हम इसे कभी सहन नहीं करेंगे।

दूसरी०—हम अत्याचारी अशोक को कभी अपना शासक नहीं मान सकते।

तीसरी०—पाटलीपुत्र के निवासियों में अभी जीवन बाकी है !

चौथी०—महलों पर आक्रमण कर दो !

पाँचवीं०—अशोक को गिरफ़्तार कर लो !

छठी०—पापी अशोक का नाश हो !

सब लोग—(एक साथ) पापी अशोक का नाश हो !

पहला नागरिक—भाइयो, इस तरह काम नहीं चलेगा। हमें चाहिए कि हम लोग बाकायदा अपने मुखियाओं का निर्वाचन कर लें, और तब संगठित हो कर कोई काम शुरू करें।

अनेक आवाज़ें—ठीक है, ठीक है।

[सब लोग वहीं बैठ जाते हैं और उसी नागरिक की अध्यक्षता में मन्त्रणा शुरू हो जाती है। बीच-बीच में नारे भी लगते जाते हैं।]

(दृश्य बदलता है।)

[अशोक अपने सहायकों तथा मन्त्रियों सहित राज-सभा-भवन में बैठा है। नगर की परिस्थितियों पर विचार किया जा रहा है।]

अशोक—तो फिर यही निश्चय रहा कि अभी राज्याभिषेक के उत्सव को स्थगित रक्खा जाय ?

अनेक मन्त्री—जी हाँ महाराज।

चण्डगिरी—मेरी राय में हमें तक्षशिला से और भी सैनिक पाटलीपुत्र में मंगवा लेने चाहिए।

अशोक—नहीं, मैं इस से सहमत नहीं। इस दशा में सीमप्रान्त असुरक्षित हो जायगा और यूनानियों को आक्रमण करने का अवसर मिल जायगा।

प्रधानमन्त्री—आपकी राय ठीक है महाराज।

अशोक—मेरी राय में हमें जनता में विश्वास उत्पन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए।

चण्ड०—यह बात सम्भव नहीं है महाराज!

अशोक—सम्भव कैसे नहीं है?

[इसी समय दूर पर से हज़ारों कण्ठों की क्रुद्ध-सी अस्पष्ट ध्वनि सुनाई पड़ती है।]

अशोक—यह कैसी आवाज़ है सेनापति?

चण्डगिरी—पाटलीपुत्र के नागरिक राजमहलों पर धावा करने के मन्सूबे बाँध रहे हैं।

अशोक—सचमुच?

चण्डगिरी—(ज़रा मुसकरा कर) और असम्भव नहीं कि एक प्रहर के अन्दर-ही-अन्दर राजमहलों में आग लगी हुई नज़र आए। आपको शायद कभी क्रुद्ध जनता से वास्ता नहीं पड़ा महाराज! मुझे तक्षशिला का अनुभव है। जनता का क्रोध बिलकुल अन्धा होता है हजूर!

अशोक—तुम्हारी क्या राय है चण्डगिरी?

चण्डगिरी—बस, आपकी आज्ञा की देरी है।

अशोक—कैसी आज्ञा?

चण्ड०—आपका इशारा ही काफ़ी है। हमारे वीर सैनिक पाटलीपुत्र में खून की नदियाँ बहा देंगे।

अशोक—(काँप कर) नहीं चण्डगिरी; मैं इस तरह की आज्ञा कदापि नहीं दे सकता। पाटलीपुत्र की जनता को मैं अपने प्राणों से बढ़कर चाहता हूँ।

चण्ड०—मुझे स्पष्ट भाषण के लिए माफ़ कीजियेगा महाराज! यदि यही बात थी तो आपने उनके भावों को ठेस ही क्यों पहुँचाई?

अशोक—केवल साम्राज्य के हित की ख़ातिर। मुझे विश्वास है कि मैं शीघ्र ही उनके हृदय में अपने प्रति विश्वास उत्पन्न कर सकूँगा।

(इसी समय पुनः वही शोर सुनाई देता है)

चण्ड०—इस शोर को सुनिए महाराज! यह कम से कम पचास हज़ार क्रुद्ध नागरिकों की सम्मिलित आवाज़ है।

अशोक—(बड़ी उद्विग्नता से) नहीं, नहीं; कदापि नहीं। मैं इस बात की आज्ञा कभी किसी भी दशा में नहीं दे सकता।

चण्ड०—मेरी राय में हमारे मार्ग में इस समय केवल दो बाधाएँ ही शेष हैं।

अशोक—वह क्या?

चण्ड०—एक जनता का क्रोध और दूसरे युवराज।

अशोक—(सहसा बहुत अधिक क्रोधित हो उठते हैं, परन्तु उसी समय अपने को सँभाल कर कहते हैं।) ऐसी बात मैं दूसरी बार नहीं सुनूँगा चण्डगिरी!

[इसी समय अचानक शीला का प्रवेश। वह सिर्फ एक सफ़ेद धोती पहने हुए हैं। मुँह पर अत्यधिक शान्त गम्भीरता है। इस शान्त वेश में भी उस के अनन्त सौन्दर्य से, जैसे सम्पूर्ण सभा-भवन में उजेला-सा हो गया।]

अशोक—(चौंक कर) **यह कौन है ?**

[सब लोग स्तब्ध होकर चुपचाप बैठे रहते हैं। शीला निकट आकर सहज भाव से अशोक के सन्मुख खड़ी हो जाती है।]

शीला—अशोक !

[अशोक कोई जवाब नहीं देता। वह विस्मय के साथ इस अद्भुत नारी की ओर देखता रह जाता है।]

शीला—अशोक, मैं तुम्हारी भाभी हूँ।

(अशोक खड़े होकर प्रणाम करता है।)

शीला—बैठ जाओ देवर ! (अशोक बैठ जाता है।)

(इसी समय एक सभासद शीला के लिए भी आसन लाकर रख देता है।)

शीला—नहीं, मैं बहुत थोड़ी के लिए आई हूँ। मैं खड़ी ही रहूँगी।

अशोक—आप ! आप यहाँ ! इस वेश में ! इस तरह !

शीला—अशोक, मैं एक बड़ी ज़रूरी बात के लिए तुम्हारे पास आई हूँ।

अशोक - आज्ञा कीजिए राजकुमारी !

शीला—(ज़रा-सा मुस्करा कर) **नहीं, मुझे राजकुमारी मत कहो। सिर्फ़ भाभी कहो। तुम्हें मालूम है न, कि सम्राट् तुम्हारे बड़े भाई के विवाह की तारीख़ निश्चित कर गए थे !**

अशोक—जी हाँ !

शीला—और वह तारीख़ परसों है।

अशोक—जी !

शीला—तुम्हारे राज्य के इन झगड़ों से मेरे विवाह का तो कोई सम्बन्ध है ही नहीं। यह विवाह परसों होगा ही। तुम्हें इस में कोई आपत्ति तो नहीं है अशोक ?

अशोक—(बहुत अधिक घबरा कर) नहीं, मुझे क्या आपत्ति हो सकती है।

शीला—धन्यवाद !

[शीला धीरे-धीरे वापस लौट चलती है। मगर शीघ्र ही जैसे उसे कोई भूली बात याद आगई हो। वह पुन: अशोक की ओर लौट पड़ती है।]

शीला—अशोक, मेरे पिता बहुत अधिक बीमार हैं। मैं कह नहीं सकती कि वह बचेंगे भी या नहीं।

अशोक—आपके पिता आचार्य दीपवर्धन ?

शीला—हाँ, वही। और उनकी बीमारी का कारण तुम्हें मालूम है ?

अशोक—नहीं।

शीला—उन्हें इस भ्रमपूर्ण बात का पूरा विश्वास हो आया है कि तुम अपने बड़े भाई की हत्या कर दोगे।

अशोक—(काँप कर लड़खड़ाती हुई आवाज़ में) मैं इतना नीच नहीं हूँ भाभी !

शीला—तो अगर तुम ज़रा उनके पास चल कर उन्हें इस बात का विश्वास दिला सको तो तुम्हारी बड़ी दया होगी।

अशोक—मैं अवश्य उनकी सेवा में उपस्थित होऊँगा।

शीला—और सुनो देवर; मेरे विवाह में धूमधाम बिलकुल नहीं होगी। पुरोहित को छोड़कर सिर्फ़ तुम्हीं

वहाँ आने पाओगे। बहन चिन्ता भी नहीं। यह विवाह जेल में जो होगा। (ज़रा-सी मुस्कराहट)

(अशोक प्रस्तर-मूर्त्ति की तरह चुपचाप बैठा रहता है)

शीला—और विवाह के बाद अगर तुम अनुमति दोगे तो हम दोनों काश्मीर चले जाएँगे। अन्यथा पाटलीपुत्र के कारागार का एक कोना ही हम दोनों के लिए काफ़ी होगा।

(अशोक की आँखों में आँसू चमक आते हैं)

शीला—यह क्या देवर! तुम्हारी आँखों में आँसू! मैं भ्रम में थी। मैं बहुत बड़े भ्रम में थी! मैं तुम्हें पाषाण-हृदय समझती थी। नहीं, तुम्हारे भी हृदय है। आखिर तुम उन्हीं के छोटे भाई हो न! रोओ नहीं देवर; वह तुमसे ज़रा भी नाराज़ न होंगे। मैं उन्हें अच्छी तरह जानती हूँ। वह तुम्हें क्षमा कर देंगे। जी में ज़रा भी मैल न रक्खेंगे। अच्छा......प्रणाम।

[शीला धीरे-धीरे चली जाती है। उसके चले जाने के कई क्षण बाद तक भी सभा भवन में सन्नाटा छाया रहता है। इसके बाद जैसे अशोक सहसा नींद से जाग उठता है।]

अशोक—आप सब लोग जाइए। मैं एकान्त चाहता हूँ।

(सब लोग चले जाते हैं। केवल चण्डगिरी वहाँ बना रहता है।)

अशोक—चण्डगिरी, तुम भी जाओ!

(बड़े अनमने भाव से वह धीरे-धीरे चला जाता है।)

अशोक—मेरे हृदय में यह कैसा द्वन्द मच रहा है! यह कैसी अनोखी-सी अनुभूति है। अशोक, अशोक, तुम इतना गिर कैसे गए। तुमने अपने भाई को

जेल में डाल रक्खा है! उस भाई को, जिसने सदा तुम्हारी भलाई सोची; सदा तुम्हारी तरफ़दारी की। मुझे स्मरण है, माताजी सुमन को ज्यादा प्यार किया करती थीं। सुमन बड़ा था, उसे रोज़ नई-नई चीज़ें मिलती थीं। परन्तु वह अपना सभी कुछ मुझे दे दिया करता था। मुझे कभी उस की किसी भी विशिष्ट वस्तु को ललचाई हुई निगाह से नहीं देखना पड़ा। ठीक अपनी उसी उदारता के समान सुमन ने आज अपना साम्राज्य भी चुपचाप मेरे हवाले कर दिया! सुमन! भाई! मुझे माफ़ करना।...और मेरी यह भाभी! यह इस लोक की नहीं है। यह देवी है। इच्छा होती थी कि गद्दी से उतर कर इस के चरणों पर सिर रख दूँ, और वहाँ पड़े-पड़े इतना रोऊँ कि मेरे सभी पापों का प्रायश्चित्त हो जाय। मगर मैं ऐसा नहीं कर सका।

(दृश्य बदलता है)

[नागरिकों ने अपने लिए तीन नेताओं का निर्वाचन कर लिया है। तीनो नेता ज़रा ऊँची जगह पर खड़े होकर आपस में भावी कार्य-क्रम के सम्बन्ध में विचार कर रहे है। इसी समय राजमहल की दीवार पर शीला दिखाई देती है।]

एक नागरीक—(चिल्ला कर) **सम्राज्ञी की जय हो!**

सब लोग—(एक साथ) **सम्राज्ञी की जय हो!**

(सम्पूर्ण जनता मे उत्साह की आंधी उमड़ पड़ता है। इसी समय शीला हाथ हिला कर सब को शान्त हो जाने का इशारा करती है। दो-एक क्षण तक 'चुप रहो!', 'चुप रहो!' की आवाजें आती हैं और उसके बाद सब ओर पूरी शान्ति छा जाती है।)

शीला—भाइयो, आप क्या चाहते हैं?

एक नेता—पाटलीपुत्र की जनता सम्राट् सुमन को चाहती है !

सब लोग—(एक साथ) सम्राट् सुमन की जय हो !

शीला—भाइयो, आपके इन उद्गारों के लिए युवराज की ओर से मैं आपके प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करती हूँ। मैं आप से एक अनुरोध करती हूँ कि मेरी बात ज़रा शान्त हो कर सुन लीजिए !

नेता—कहिए सम्राज्ञी, हम सब लोग पूरी तरह शान्त रहेंगे।

शीला—अच्छा, पहले मेरे एक प्रश्न का जवाब दीजिए। युवराज को छुड़ाने के लिए आप क्या उपाय प्रयोग में लाएँगे ?

एक नेता—हम राजमहल को ख़ाक में मिला देंगे।

दूसरा नेता—हम पाटलीपुत्र को अत्याचारियों के ख़ून से रंग देंगे।

तीसरा नेता—हम सीमाप्रान्त के उजड्ड सैनिकों की चटनी बना देंगे।

शीला—ज़रा शान्त रहिए। क्या आप समझते हैं कि आपकी इन बातों से युवराज को खुशी होगी ! यदि आपका यही विचार है तो मैं कहूँगी कि आप भ्रम में हैं। युवराज को यदि इस तरह खून की नदियाँ बहानी होतीं, तो याद रखिए आज सीमाप्रान्त के ये अशिक्षित सैनिक यहाँ इस तरह दिखाई न दे रहे होते। तक्षशिला के नागरिको, यह याद रक्खो कि अशोक को युवराज उतना ही प्यार करते हैं, जितना वह तुम्हें, मुझे अथवा अपने आपको

करते हैं। (इसके बाद वह और भी अधिक उत्साह के साथ कहने लगती है) नागरिको, मैं अभी-अभी राजकुमार अशोक से मिल कर आ रही हूँ। अशोक को तुम लोगों न ग़लत समझा है। मैंने अभी-अभी उसकी आँखों में आँसुओं की चमक देखी है। अशोक ने अभी तक जो कुछ किया है, उस पर उसे पश्चात्ताप है। मैं आपसे अनुरोध करती हूँ, प्रार्थना करती हूँ, आप लोग शान्त भाव से लौट जाइए। मुझे विश्वास है कि परसों तक आपको कोई बहुत अच्छी खबर सुनने को मिलेगी।

पहला नेता—सम्राज्ञी की जय हो। परन्तु हमें अशोक पर भरोसा नहीं है।

शीला—भरोसा नहीं है! नागरिको, अगर भाई के प्रति भाई पर भरोसा नहीं किया जा सकता तो और किस पर भरोसा किया जा सकेगा! नागरिको, मेरे हृदय में दुःख का तूफ़ान चल रहा है, मेरे पति जेल में हैं, मेरे पिता मृत्यु-शय्या पर हैं। मैं आपसे अनुरोध करती हूँ कि अशोक को आप मेरी ज़मानत पर छोड़ दीजिए।

नेता—आपके एक इशारे पर हम सब अपनी जान तक दे सकते हैं। हमें आपकी आज्ञा स्वीकार है साम्राज्ञी।

सब लोग—(एक साथ) साम्राज्ञी की जय हो!

(भीड़ तितर-बितर हो जाती है।)

चौथा दृश्य

स्थान—पाटलीपुत्र ।

समय—मध्याह्न ।

[राजमहल के एक छोटे-से कमरे में अशोक और चण्डगिरी आमने-सामने खड़े हैं ।]

चण्डगिरी—तो मुझे चले जाने की आज्ञा दीजिए महाराज !

अशोक—इतने हताश न होओ चण्डगिरी ।

चण्डगिरी—महाराज ! (गला भर आता है)

अशोक—तुम्हें मैंने आज तक कभी इतना उद्विग्न नहीं देखा । तुम्हें यह हो क्या गया है सेनापति ?

चण्डगिरी—महाराज, तक्षशिला के नागरिकों के क्रोध से जिस दिन आप ने मेरी रक्षा की थी, उस दिन मैंने यह प्रतिज्ञा की थी कि अपना जीवन आप की सेवा में, आप ही के लिए न्यौछावर कर दूँगा । आप के लिए मैं पाप-पुण्य, दुख-सुख, शोक-मोह किसी की परवाह न करूँगा । परन्तु यह मेरा दुर्भाग्य है कि आज यहाँ तक बढ़ आने के बाद, जब यह साफ़ तौर से दिखाई दे रहा है कि आपके लिए लौटने का मार्ग बन्द हो गया है, आप आग के साथ खेल करने को तैयार हो गए हैं । यह मेरा दुर्भाग्य नहीं तो और क्या है ! मुझे लौट जाने दीजिए महाराज ! मेरी सहायता की आप को अब आवश्यकता ही नहीं रही मेरे मालिक !

अशोक—मैं सब समझता हूँ, चण्डगिरी । मगर मैं अपने भाई पर किसी तरह का अत्याचार नहीं कर सकूँगा ।

चण्डगिरी—तभी तो मैं आप से यह अनुरोध कर

रहा हूँ कि आप जो चाहें कीजिए। सिर्फ़ मुझे यहाँ से चले जाने की अनुमति दे दीजिए।

अशोक—मुझे इस दशा में छोड़ कर तुम चले जा सकते हो चण्डगिरी ?

चण्ड०—हरगिज़ नहीं मेरे मालिक। जहाँ आप का पसीना गिरेगा, वहाँ मैं अपना खून बहा दूँगा। परन्तु जब आप का मुझ पर विश्वास ही नहीं रहा, जब आपका दृष्टि-कोण ही बदल गया है, तब मुझे यहाँ रह कर आप की इच्छा के मार्ग में काँटे बोने से क्या लाभ?

अशोक—तुम मेरी सेना के सेनापति हो। तुम्हें कौन-सा अधिकार प्राप्त नहीं है!

चण्ड०—तो महाराज, क्या आप मुझे सभी तरह के अधिकार देते हैं ?

अशोक—केवल पाटलीपुत्र की प्रजा पर अत्याचार करने और मेरे भाई के सम्बन्ध में कुछ भी करने के अतिरिक्त तुम सभी कुछ कर सकते हो।

चण्ड०—यह तो वैसी ही बात है, जैसे किसी का साँस बन्द करके उसे जीने की खुली अनुमति दे दी जाय।

अशोक—पाटलीपुत्र तक्षशिला नहीं है चण्डगिरी! तुम भूलते हो।

चण्ड०—महाराज, आज साँझ तक पाटलीपुत्र के नागरिक जब राजमहलों को आग लगा देंगे, जब आप जानेंगे कि चण्डगिरी ने ठीक कहा था और महाराज, मैं यह कब कहता हूँ कि आप अपने भाई पर अत्याचार कीजिए। मैं तो सिर्फ़ इतना ही कहता हूँ कि उन पर कड़ा

निरीक्षण रखिए और विद्रोहियों को सज़ा दीजिए। इससे अधिक तो मैंने कुछ नहीं कहा।

अशोक—अच्छा सेनापति, तुम चाहते क्या हो?

चण्ड०—(अपनी जेब से एक कागज़ निकालकर) इस कागज़ पर अपने हस्ताक्षर बना दीजिए महाराज। बस, और कुछ भी नहीं।

अशोक—(पढ़ कर) तुम इतने असीमित अधिकार चाहते हो?

चण्ड०—महाराज, मैं आपसे प्रतिज्ञा करता हूँ कि कोई भी बात आपकी सलाह के बिना नहीं करूँगा। यह अधिकार मैं केवल इस उद्देश्य से लेना चाहता हूँ कि तक्षशिला के विद्रोहियों को गिरफ़्तार करके उन्हें यह धमकी दे सकूँ कि मैं चाहे जो कुछ कर सकता हूँ। इससे अधिक कुछ भी नहीं।

[अशोक बड़े अनमने भाव से उस कागज़ पर हस्ताक्षर देते हैं। उसी समय बाहर उद्यान में से किसी चील की हल्ल—ल्ल—ल्ल-सी आवाज सुनाई देती है। अशोक चौंक जाते हैं।]

अशोक—यह क्या है?

चण्ड०—कुछ नहीं, कोई पक्षी होगा महाराज!

अशोक—मेरे विश्वास का कोई अनुचित उपयोग न उठाना चण्डगिरी!

चण्डगिरी—आप निश्चिन्त रहें मालिक।

[प्रणाम करके प्रस्थान]

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—चण्डगिरी का कमरा।

समय—रात।

(चण्डगिरी और उसके दो सहकारी उपस्थित हैं। कमरा अन्दर से बन्द है।)

चण्डगिरी—अगर तुम यह काम कर सके तो तुम्हें मुँह-माँगा इनाम मिलेगा।

सहकारी—मगर शायद सम्राट् को यह बात अभीष्ट नहीं है।

चण्ड०—बेवकूफ़ हुए हो क्या? मेरे पास यह राजाज्ञा मौजूद है। एक सप्ताह तक मैं पाटलीपुत्र नगर में, जो चाहे कर करता हूँ।

सह०—फिर भी!

चण्ड०—फिर भी क्या? मैंने सम्राट् से पूछ लिया है। उन की बड़ी प्रबल इच्छा है कि जिस किसी तरह सुमन का झंझट सदा के लिए काट दिया जाय। निश्चिन्त रहो, अगर तुम यह काम कर सके तो उन्हें इस से बड़ी प्रसन्नता होगी।

सह०—मगर युवराज का कसूर क्या है?

चण्ड०—यह पूछना तुम्हारा काम नहीं है। बोलो, तुम यह काम कर सकोगे या नहीं?

[वह सैनिक अपने दूसरे साथी की ओर देखता है। दोनों में इशारे ही से कोई निश्चय होता है।]

सह०—जब तक आप युवराज का दोष नहीं बताएँगे, तब तक मैं यह काम नहीं कर सकूँगा।

चण्ड०—(दूसरे व्यक्ति से) तुम्हारा भी यही निश्चय है?

सह०—जी हाँ !

चण्ड०—शाबाश बहादुरो ! मैं तुम्हारी परीक्षा ले रहा था। जाओ, मैंने देख लिया। तक्षशिला के सैनिक वीर हैं, जल्लाद नहीं। जाओ।

(दोनों सैनिकों का प्रस्थान)

चण्ड०—(आप-ही-आप) इस निष्ठुर कार्य के लिए मैं किसे तैयार करूँ ? (सोचता है; उसके बाद सहसा खुश होकर) हाँ, मुझे सूझ गया। मेरा वह बर्बर गूँगा पहाड़ी नौकर ! (आवाज़ देकर) कोई है ?

(एक सैनिक का प्रवेश)

सैनिक—हजूर !

चण्ड०—घुड़साल में से गूँगे को बुला लाओ।

सैनिक—जो आज्ञा।

(प्रस्थान)

चण्ड०—यह गूँगा पहाड़ी किसी अजीब धात का बना है। उसके कद्दावर, हट्टे-कट्टे देह में मानों प्राण है ही नहीं। ठीक मशीन की तरह से काम करता है। उसमें न हृदय है, न मस्तिष्क है, न चेतना।

(गूँगे का प्रवेश। वह आते ही प्रणाम करके मुसकराने लगता है)

चण्ड०—एक काम करोगे ?

गूँगा—(इशारे से) कहिए।

चण्ड०—एक आदमी का सिर काटना होगा।

गूँगा—(इशारे से) अवश्य।

चण्ड०—परसों सुबह-सुबह मेरे पास आजाना।

गूँगा—(इशारे से) जी हाँ।

चण्ड०—जाओ।

(गूँगे का प्रस्थान)

चण्ड०—चलूँ, ज़रा पहरे की भी फ़िक्र करूँ।

(प्रस्थान)

छठा दृश्य

स्थान—कारागार।

समय—प्रभात।

[बाहर आँधी और वर्षा का जोर है। प्रचण्ड तूफ़ान-सा चल रहा है। प्रकृति पूर्णरूप से विक्षुब्ध हो उठी है। सभी ओर से साँय-साँय का तेज़ शब्द सुनाई पड़ रहा है। युवराज सुमन अपनी कोठरी में एक खम्बे के सहारे खड़े होकर खिड़की की राह से बाहर का यह तूफ़ान देख रहे हैं।]

सुमन—ओह, कैसे ज़ोरों का तूफ़ान है। मालूम होता है, जैसे सभी कुछ बह जायगा, सभी कुछ उड़ जायगा। बादलो! बरसो, और इतना बरसो कि इस धरती पर से मनुष्य भी कलुषतापूर्ण सृष्टि ही धुल जाय। हवा! इतनी तेज़ी से चलो कि यहाँ किसी का निशान भी बाकी न बचे। सभी कुछ उड़ जाय।...आज चौथा दिन है। मेरी खोज-ख़बर लेने कोई भी नहीं आया। सारी दुनिया मुझे भूल गई है। जैसे इस जगत् में मेरा कोई स्थान ही न था। मनुष्य कितना अहंकार करता है, समझता है मैं न रहूँगा तो यह हो जायगा, वह हो जायगा। मनुष्य तो सचमुच चला जाता है, मगर संसार का चक्र ठीक उसी तरह चलता चला जाता है।...अशोक! भाई अशोक! तुम कितने निठुर हो। मुझे पूछने तक, एक बार देखने तक भी तो नहीं

आए !...मैंने चण्डगिरी से कहा था कि अशोक से यहाँ आने को कह देना। परन्तु अशोक नहीं आया। वह अब क्यों आने लगा। अब वह मगध महा-साम्राज्य का अधीश्वर है। और मैं? मैं एक साधारण, उपेक्षित कैदी हूँ! (सहसा सुमन की आँखों में आँसू भर आते हैं। परन्तु उसी समय वह सँभल जाता है।) सुमन! तुम्हारे हृदय की यह कैसी दुर्बलता है। सँभल जाओ। तुम कारागार में अपनी इच्छा से आए हो। इस तरह चुपचाप आँसू बहाने के लिए नहीं आए। (सहसा उसका उत्साह बहुत बढ़ जाता है, और वह उठ कर पिंजरे में बन्द शेर की तरह टहलने लगता है।) मैं अगर चाहता तो क्या नहीं कर सकता था। आज भी!—मुझे विश्वास है कि आज भी पाटलीपुत्र के ६ लाख नागरिक मेरे एक इशारे पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार हो जाएँगे। सुमन! हाँ, सचमुच मैं सुमन हूँ। मैं सम्राट् बिन्दसार का सब से बड़ा पुत्र हूँ। मेरी रगों में महान् चन्द्रगुप्त का खून गति कर रहा है। मेरे लिए दुख, शोक, चिन्ता किसी भी चीज़ की सत्ता नहीं है।

[सहसा द्वार पर शीला का प्रवेश। उसके हाथ में फूलों की एक माला है। साथ में एक पण्डितजी हैं, जिन्होंने यज्ञ का कुछ सामान सँभाला हुआ है। शीला के पास राजाज्ञा मौजूद है, वह पण्डित जी के साथ कारागार के अन्दर चली आती है। सुमन एकक्षण तक अवाक् खड़ा रह जाता है।]

सुमन—(सहसा आगे बढ़ कर) शीला! शीला! हे प्रभो क्या यह सपना है! अगर सपना है तो मेरा यह सुख स्वप्न शीघ्र न तोड़ देना मेरे ईश्वर!...शीला!

शीला—प्राणनाथ!

सुमन—तुम, तुम, क्या सचमुच तुम्हीं हो !

शीला—जी हाँ मेरे देव !

सुमन—तुम यहाँ कैसे आईं ?

शीला—अशोक से अनुमति लेकर।

सुमन—यह कैसी अनहोनी-सी बात है !

शीला—आपको याद नहीं रहा देव ! आज १६ श्रावण है।

सुमन—मुझे कुछ भी याद नहीं रहा शीला ! इन चार ही दिनों में मैं पिछली सभी बातें भूल गया। मालूम होता है, जैसे मेरी सारी उम्र जेल में ही कटी हो !

शीला—पिछला सभी कुछ भुला दीजिए प्राणनाथ ! इन चार दिनों को भी भुला दीजिए। आज से हमारे नए जीवन का प्रारम्भ है।

सुमन—मेरा इतना सौभाग्य ! विश्वास नहीं होता शीला ! क्या कभी यह भी सम्भव है ! हे प्रभो ! तुम क्या सचमुच इतने दयापूर्ण हो !

(शीला आगे बढ़ कर अपने हाथ की माला सुमन के गले में डाल देती है)

शीला—(घुटने टेक कर) भगवान् को प्रणाम कीजिए !

[मन्त्रचालित की तरह सुमन घुटने टेक देता है, उसके दोनों हाथ जुड़ जाते हैं और आँखें ऊपर की ओर उठ जाती है।]

शीला—प्रभो, हमें शक्ति दीजिए कि हम लोग सभी कुछ सहन कर सकें !

[शीला सुमन की ओर देखती है। उसे दिखाई देता है कि सुमन चुप है। और उसकी आँखों से दो बूँद आँसू उसके कपोलों को भिगोते हुए धीरे-धीरे नीचे की ओर खिसक रहे हैं।]

शीला—(सुमन का हाथ पकड़कर) नाथ ! खड़े हो जाइए !

(सुमन मन्त्रचालित की तरह उठ कर खड़ा हो जाता है ।)

शीला—(पुरोहित से) आप यज्ञ तैयारी कीजिए पण्डित जी !

(पण्डित जी अपनी तैयारियों में लग जाते हैं ।)

सुमन—(बड़े ही धीमे स्वर में) तुम अच्छी तरह से तो हो शीला !

शीला—(फीकी-सी मुसकराहट के साथ) खूब अच्छी तरह ।

सुमन—मुझे अभी तक विश्वास नहीं होता कि मैं इतना सौभाग्यशाली हो सकता हूँ ।

शीला—पिछली सभी बातें भुला दीजिए नाथ !

सुमन—क्या अशोक मेरा यह सुख सहन कर सकेगा ?

शीला—अशोक ? अशोक अभी तक आपके पास आने में लज्जा अनुभव करता है । मैं अपने देवर से अच्छी तरह परिचय कर आई हूँ । उसे इस विवाह में शामिल होने के लिए निमन्त्रण भी दे आई हूँ । आपको मुँह दिखाते उसे शर्म आती है । इसी से वह इतने दिनों तक आपके पास नहीं आ सका । नहीं तो वह इतना नृशंस नहीं है नाथ ! मेरा ख़याल है कि वह थोड़ी देर में आता ही होगा । मेरा विचार आज शाम को यहाँ आने का था, परन्तु सुबह-सुबह इस तूफ़ान को देख कर मुझे भय प्रतीत हुआ और यों ही जी में आया कि मुझे इसी समय आपके पास चलना चाहिए । मैं अशोक के पास इस बात की सूचना भेज कर यहाँ चली आई । वह आता ही होगा ।

पुरोहित—आप लोग इधर आने की कृपा कीजिए ।

[सुमन शीला का हाथ पकड़ कर धीरे-धीरे यज्ञ कुण्ड की तरफ़ बढ़ता है। उसी समय गूँगे के साथ चण्डगिरी का प्रवेश। चण्डगिरी शीला को वहाँ उपस्थित देख कर चौंक जाता है।]

चण्ड०—(आप ही-आप) इन्होंने तो शाम के समय यहाँ आना था। यह क्या बात हो गई! (शीघ्रता से आगे बढ़कर पुरोहित से) ऐ पण्डित साहब! मैं कहता हूँ भले मानसों की तरह उठ कर इधर चले आइए।

[सुमन और शीला सहसा चौंक कर खड़े हो जाते हैं और पुरोहित महाराज घबरा कर अपने आसन से उठ जाते हैं।]

सुमन—(बड़े क्रोध के साथ) चण्डगिरी!

(चण्डगिरी झुककर प्रणाम करता है।)

सुमन—यह तुम्हारी कैसी हरकत है, चण्डगिरी।

चण्ड०—यह महाराजा अशोक की आज्ञा है राजकुमार!

सुमन—आज अशोक महाराज है!......ख़ैर, कोई बात नहीं। क्या आज्ञा है?

चण्ड०—(दो कागज़ आगे बढ़ा कर) यह लीजिए हजूर!

[सुमन दोनों कागज़ पढ कर काँपते हुए हाथों से चुपचाप उन्हें शीला की ओर बढा देता है।]

शीला—(चौंक कर) हैं! युवराज के वध की आज्ञा! नहीं; नहीं; हरगिज़ नहीं! यह धोखेबाज़ी है। अशोक ऐसी आज्ञा कभी नहीं दे सकता। (शीला का चेहरा सफ़ेद पड़ जाता है। उसका सारा शरीर लकवे के बीमार की तरह काँपने लगता है और बोलते-बोलते कण्ठावरोध हो जाता है।)

चण्ड०—नहीं राजकुमारी, यह सम्राट् अशोक का आदेश है। वह भाई की हत्या की आज्ञा देते हुए घबराते

थे, इसी से उन्हों ने यह तरीका ढंग निकाला है। मुझे सभी तरह के अधिकार देकर मुझ से ही उन्हों ने राजकुमार के लिए प्राणदण्ड की व्यवस्था लिखवा ली है।

[सुमन अवाक्-से खड़े रह जाते हैं। जैसे वह पत्थर की मूर्त्ति हों। शीला बड़ी शीघ्रता से आगे बढ़ कर चण्डगिरी के सन्मुख घुटने टेक कर बैठ जाती है और गिड़गिड़ा कर कहती है]

शीला—दया करो ! मैं तुम से युवराज के प्राणों की भीख माँगती हूँ। चण्डगिरी, मुझ अभागिनी की यह एक प्रार्थना स्वीकार कर लो। कुछ देर के लिए ठहर जाओ। मुझे अशोक के पास हो आने दो। वह आते ही होंगे। मैं उन्हें समझा लूँगी। बस, चण्डगिरी ! मेरी इतनी-सी बात मान लो। इसके बदले में मैं आजन्म तुम्हारी गुलाम बनी रहूँगी। तुम जो कहोगे, करूँगी। बोलो, बोलो, चण्डगिरी ! बोलो, मेरी यह प्रार्थना स्वीकार करते हो या नहीं ?

चण्ड०—(लड़खड़ाती-सी आवाज़ में) अच्छा, आप सम्राट् के पास हो आइए।

शीला—परमात्मा तुम्हें इसका फल देंगे ! मैं अभी आई। (तीर की तेज़ी से भाग कर निकल जाती है।)

(दृश्य बदलता है।)

शीला—(बेतहाशा दौड़ते हुए चीख़ती-सी आवाज़ में) अशोक ! अशोक !!

[शीला की आवाज़ तूफ़ान की आवाज़ में विलीन हो जाती है। वर्षा की बौछार से उसका सारा शरीर भीग जाता है और वस्त्र कीचड़ से लथ-पथ हो जाते हैं। फिर भी वह सब जगह चिल्लाती हुई घूम फिर रही है।]

शीला—अशोक ! अशोक ! तुम कहाँ हो अशोक !!

[अशोक कहीं दिखाई नहीं देता । तब शीला बड़ी शीघ्रता से कारागार की ओर लौट जाती है। अन्दर पहुँच कर वह देखती है कि कारागार में पूरा सन्नाटा है। शीला की निगाह सब से पहले अशोक पर पड़ती है, जो बच्चों की तरह फूट-फूट कर रो रहा है; शीला का दिल धड़क जाता है। तो भी अनायास ही उसके मुँह से निकलता है।]

शीला—अशोक ! अशोक ! तुम अब तक कहाँ थे ?

[अशोक को मानो कुछ भी सुनाई नहीं देता। उसी समय शीला की निगाह सुमन की लाश पर पड़ती है, जो खून से तर है। लाश का सिर्फ़ मुँह ही खुला हुआ है, बाकी सम्पूर्ण शरीर अशोक के रेशमी दुपट्टे से ढका पड़ा है। शीला स्थल पर फेंकी गई मछली के समान तड़प उठती है। इसी समय अशोक की निगाह शीला पर पड़ती है। वह अत्यधिक भयभीत हो जाता है।]

शीला—(अशोक की आँखों से अपनी आँखें मिला कर) **खूनी ! चाण्डाल ! धोखेबाज़...ओह खून !...खून !...युवराज !... प्राणनाथ !**

[शीला का कण्ठावरोध हो जाता है और वह लड़खड़ा कर गिर पड़ती है। उसे मूर्छा आजाती है। एक कोने में दुबके हुए पण्डित जी बहुत ही त्रस्तभाव से गुनगुना रहे हैं।]

पण्डित जी—हरे मुरारे ! मधु कैटभारे !!
गोपाल गोबिन्द मुकुन्द शौरे !!!

सातवाँ दृश्य

स्थान—तक्षशिला।

समय—सूर्यास्त।

[राजमहल के मन्दिर में आरती के बाद एक साधु गा रहा है। रानी तिश्यरक्षिता बड़े मनोयोग से उसका गीत सुन रही है।]

गीत

तुम्हें कर याद जगदीश्वर ! हुआ जग हर्ष दीवाना
किसी ने किन्तु महिमा का न पूरा भेद पहिचाना।
असीमित शक्ति के स्वामी ! तुम्हारी कामना अनुपम
खिलाया फूल सृष्टि का तुम्हीं ने नाथ ! मनमाना।
बने हम मुग्ध अचरज से गगन में देख कुछ तारे
न जाने दूर तक बिखरे कहाँ ब्रह्माण्ड यह नाना।
नये ही रत्न-धन देते सदा से भूमि-गिरि-सागर
नहीं आसान वैभव की तुम्हारे थाह कुछ पाना।
निराशा के दुखद पल में न जब होता जगत साथी
भुलाया जा नहीं सकता तुम्हारा प्रेम से आना।
बसाने को तुम्हें जग ने महल मीनार चुन डाले
हृदय का दिव्य मन्दिर है तुम्हारा घर न यह जाना।
उसी मेरे विमल मन में जगाने ज्ञान का दीपक
कृपा कर नाथ ! पल भर को झलक अपनी दिखा जाना।

(गीत के बाद तिश्री अपने हाथों से प्रसाद वितरण करती है।)

तिशी—आप सब लोग जाइए। पुजारी जी, आप भी जाइए।

[सबका प्रस्थान। मन्दिर मे तिशी अकेली रह जाती है। मूर्त्ति के के सन्मुख घी के अनेक दीपक टिमटिमा रहे हैं। तिशी हाथ जोड़ कर मूर्त्ति के सन्मुख बैठ जाती है।]

तिशी—इस दुखिया की पुकार कब सुनोगे नाथ! मेरे प्राणनाथ मेरे अनुरोध को ठुकरा कर पाटलीपुत्र चले गए हैं। आज एक महीना बीत गया, मुझे उनका कोई समाचार नहीं मिला। प्रभो, इस दुखिया पर अपनी कृपा रखना। मुझे नींद में सदा भयङ्कर-भयङ्कर सपने आते रहते हैं। मेरे स्वामी, जेठ, देवर, ननद, भाभी—सबकी रक्षा करना हे नाथ! उनके भाग्य में यदि कोई दुख लिखा हो तो वह मुझे दे दो!

[तिशी मूर्त्ति के सन्मुख सिर झुकाती है। सिर उठाते ही उसकी दृष्टि मन्दिर के द्वार पर खड़ी एक परिचारिका पर पड़ती है।]

तिशी—कौन है?

परि०—मैं हूँ महारानी!

तिशी—क्या बात है?

परि०—पाटलीपुत्र से एक दूत आया है।

तिशी—(प्रसन्न होकर) पाटलीपुत्र से दूत! उसे बड़ी शीघ्रता से यहाँ ले आओ।

(परिचारिका बाहर जाती है, और बहुत शीघ्र दूत के साथ वापस लौट आती है।)

दूत—जय हो सम्राज्ञी!

तिशी—कहो, जल्दी कहो, क्या समाचार है।

दूत—सम्राट् अशोक सकुशल हैं। उन्होंने मुझे सम्राज्ञी को राजधानी में ले आने के लिए भेजा है।

तिशी—(धड़कते दिल से) सम्राट् अशोक ? और मैं सम्राज्ञी ! यह कैसा अनर्थ है ! दूत, कहो युवराज सुमन तो सकुशल हैं न !

दूत—मुझे नहीं मालूम सम्राज्ञी । मुझे और कोई भी समाचार मालूम नहीं ।

तिशी—अच्छा जाओ, कल प्रातःकाल प्रस्थान कर दिया जायगा।

(दूत का प्रस्थान)

[सहसा रानी की आँखों में आँसू भर आते हैं और वह भगवान् की मूर्त्ति के सन्मुख पुनः अपना सिर झुका देती है।]

पटाक्षेप

चौथा अंक

पहला दृश्य

स्थान—वैशाली।

समय—मध्याह्नोत्तर।

[नगर के राजमार्ग पर अस्तव्यस्त वेश में शीला और चित्रा खड़ी हैं। उन्हें घेर कर बहुत से राह चलते नागरिक जमा हो रहे हैं। थोड़ी ही देर में भीड़ काफ़ी बढ़ जाती है।]

चित्रा—(ज़रा ऊँचे स्थान पर खड़े होकर) वैशाली के नागरिको! हम दोनों परमात्मा का एक सन्देश लेकर तुम्हारे पास आए हैं।

पहला ना०—ये कौन हैं?

दूसरा ना०—मुसाफ़िर।

तीसरा ना०—नहीं भिक्षुणियाँ।

चौथा ना०—आप दोनों कौन है?

चित्रा—हमारा परिचय पूछते हो? मैं सम्राट बिन्दुसार की एकमात्र पुत्री हूँ। मेरा नाम चित्रा है। और ये? इन का परिचय अभी तुम मुझसे मत पूछो।

[सभी नागरिक विस्मयपूर्ण आदर के साथ उन दोनों की ओर देखने लगते हैं।]

चित्रा—भाइयो, मैं आप लोगों से एक भीख माँगने आई हूँ।

अनेक नागरिक—कहिए; हम आप की बात सुनेंगे।

चित्रा—मगध-साम्राज्य के नागरिको, तुम्हें मालूम है कि एक खूनी और लुटेरा व्यक्ति आज तुम्हारा सम्राट् बना हुआ है! मुझे यह कहते लज्जा आती है कि वह खूनी मेरा अपना सगा भाई है। मगर भाइयो, मैं उसकी बहन होकर भी कर्तव्य की पुकार के सम्मुख सभी कुछ त्यागकर निकल खड़ी हुई हूँ। क्या तुम भी अपने कर्तव्य का पालन कर सकोगे?

(नागरिक भयभीत भाव से चुपचाप खड़े रहते हैं।)

चित्रा—(ज़रा और भी ऊँची आवाज़ में) तो क्या मैं समझ लूँ कि वैशाली के जगत्प्रसिद्ध वीर आज एक अत्याचारी दानव के भय से डर कर अपने कर्तव्य का ज्ञान भूल गए हैं। वे कायर बन गए हैं!

पहला ना०—मगर इस विद्रोह से लाभ क्या होगा राजकुमारी?

चित्रा—लाभ की बात पूछते हो? नागरिको, ज़रा सोचकर देखो। आने वाली सन्तति तुम्हारे सम्बन्ध में क्या कहेगी। वह यही कहेगी न कि एक नृशंस राक्षस ने मगध साम्राज्य के महाराजाधिराज की हत्या कर दी, वह स्वयं उस साम्राज्य का मालिक बन बैठा और साम्राज्य की करोड़ों प्रजा ने उसके खिलाफ़ चूँ तक न की। भाइयो, तुम मनुष्य हो, पशु नहीं हो। तुम क्षत्रिय हो, नपुंसक नहीं हो। तुम मगध साम्राज्य के नागरिक हो, दास नहीं हो!

दूसरा ना०—मगर अब विद्रोह किस के लिए किया जाय? युवराज तो अब रहे नहीं।

चित्रा—हाँ, इस बात का जवाब मैं दूँगी। तुम्हारे

सम्राट् चले गए। मगर उनकी वाग्दत्ता वधू, तुम्हारी साम्राज्ञी, महाराज-कुमारी शीला आज भी मौजूद है, और वह इस फटी हालत में तुम्हारी शरण माँगने आई है।

(कण्ठावरोध)

[नागरिकों में उत्साह और क्रोध की लहर-सी आजाती है। अनेक नागरिक शीला को इस वेश में देखकर रोने लगते हैं।]

शीला—(चित्रा के पास खड़ी होकर, काँपते स्वर में) भाइयो, मैं आज साम्राज्ञी नहीं हूँ, राह की भिखारिन हूँ, अनाथा हूँ, विधवा हूँ। मेरे पति और पिता दोनों एक साथ चल बसे। तुम्हें छोड़ कर मेरा और कोई भी नहीं। मैं साम्राज्य नहीं चाहती थी। मैं सिर्फ़ उन्हें, अपने हृदय-देवता को, चाहती थी। मैंने कहा था कि मैं सारी उम्र उनकी चरण-सेवा करते हुए जेल में ही काट देने को सहर्ष तैयार हूँ। मगर तुम्हारे पापी राजा अशोक से इतना भी नहीं सहा गया। मेरे देखते-देखते मेरे देवता का, तुम्हारे हृदय सम्राट् का, धोखेबाज़ी और नृशंसता के साथ वध कर दिया गया। नागरिको, भाइयो, क्या तुम यह अत्याचार, यह अनाचार चुपचाप सह लोगे? (आँखों में आँसू भर आते हैं।)

सभी नागरिक—(एक साथ) कदापि नहीं।

चित्रा—तो बस भाइयो, आज माता स्वयं तुम से सहायता की भीख माँगने आई हैं। अपने महलों और छप्परों का मोह त्याग कर माता का अनुसरण करो। आने वाली सन्तान गर्व के साथ कहेगी, हमारे पुरखा वीर थे, वे कायर नहीं थे। बोलो वैशाली से कितने नागरिक हमारा साथ देंगे?

सभी नाग०—हम सभी आप के साथ चलेंगे।

चित्रा—शाबास वीरो! मगध-साम्राज्य आज भी पुरुषत्व-विहीन नहीं हुआ।

१ नाग०—हम साम्राज्ञी की सेवा में अपना सर्वस्व अर्पण कर देंगे।

२ नाग०—हम अत्याचारी अशोक के खिलाफ विद्रोह करेंगे।

३ नाग०—अशोक का नाश हो!

सभी नाग०—अशोक का नाश हो!

४ नाग०—साम्राज्ञी चिरजीवी हों!

सभी नाग०—साम्राज्ञी चिरजीवी हों!

चित्रा—तो भाइयो, आओ। मेरे पीछे-पीछे आओ। मैं सम्पूर्ण उत्तरा-खण्ड में वह आग लगा दूँगी, कि एक क्या सौ अशोक भी उसे नहीं बुझा सकेंगे।

सभी—चलो-चलो।

(चित्रा और शीला के पीछे-पीछे सभी का प्रस्थान।)

दूसरा दृश्य

स्थान—आचार्य उपगुप्त का आश्रम।

समय—प्रभात।

[आचार्य उपगुप्त अपनी कुटिया के द्वार पर गम्भीर मुद्रा धारण किए बैठे हैं। उनके सम्मुख उनका प्रधान शिष्य शाकटायन खड़ा है।]

शाकटायन—वे लोग आज ही रात को वहाँ से कूच कर जाएँगे।

उपगुप्त—तुमने स्वयं उन्हें देखा है क्या?

शाक०—जी हाँ।

उपगुप्त—उनके साथ इस समय कितने व्यक्ति होंगे?

शाक०—कम-से-कम पच्चीस हज़ार।

उप०—सचमुच!

शाक०—सचमुच गुरु जी। राजकुमारी शीला और चित्रा दोनों में कुछ विचित्र तेज-सा आगया है भगवन्! वे जहाँ भी जाती हैं, सम्पूर्ण नागरिक अपने सब काम-काज छोड़कर उनके साथ हो लेते हैं। मैंने जनता की इस असंगठित-सी फ़ौज में लँगड़े और लूले भी देखे हैं। अपाहिज भी देखे हैं। सम्पूर्ण वैशाली प्रान्त में एक भी नागरिक ऐसा नहीं, जिसने राजकुमारियों की पुकार तो सुनी हो और वह सम्राट् से बदला लेने के लिए विचलित न हो उठा हो। लोगों में असाधारण जोश है।

उप०—वे लोग अपाहिजों को क्यों साथ लिए जा रहे हैं?

शाक०—इसका अभिप्राय यह है गुरु जी, कि जनता जब इन अपाहिजों में भी अशोक के खिलाफ़ इतना उत्साह देखती है, तो वह इस विद्रोह में और भी अधिक अनुभूति के साथ सम्मिलित होती है।

उप०—यह बात सचमुच अभाग्यपूर्ण है। व्यर्थ ही देश-भर में खून की नदियाँ बहेंगी। युवराज सुमन तो रहे नहीं, फिर इस तरह व्यर्थ का रक्तपात करने से क्या लाभ?

शाक०—जब सम्राट् की अपनी सगी बहन और युवराज सुमन की वाग्दत्ता पत्नी—दोनों मिल कर इस विद्रोह

का संचालन कर रही हैं, तब इस तरह के सवाल किसी के मन में अधिक गम्भीरता के साथ पैदा ही नहीं होते।

उप०—तुम ठीक कहते हो शाकटायन! मुझे राजकुमारी शीला के पास ले चल सकोगे? आचार्य दीपवर्धन मेरे घनिष्ट मित्र थे। ज़रा उनकी कन्या को देखूँ तो!

शाक०—किस समय चलना होगा गुरु जी!

उप०—इसी समय।

शाक०—मैं अभी तैयार होकर आया गुरु जी!

(प्रस्थान)

(दृश्य बदलता है)

[ग्राम के एक विशाल उद्यान में, एक घने वृक्ष की छाया में विरह की मूर्त्त-स्वरूप-सी शीला चुपचाप बैठी शून्य-दृष्टि से ऊपर की ओर ताक रही है। आम्रवन में हजारों आदमी जमा हैं। सब लोग अपने भोजन की तैयारियों में व्यस्त है। कुछ दूरी पर चित्रा दो-एक नागरिकों से बातें कर रही है। इसी समय आचार्य उपगुप्त का प्रवेश।]

उप०—(निकट आकर) आप ही का नाम कुमारी शीला है!

[शीला चौंक कर उपगुप्त की ओर देखती है। सामने एक बौद्धभिक्षु को पाकर वह श्रद्धा सहित नमस्कार करती है।]

शीला—जी हाँ, मेरा ही नाम शीला है।

उप०—भगवान् बुद्ध तुम्हें शान्ति दें बेटी!

शीला—(सहसा खड़ी होकर) आप कौन हैं, सन्यासिन्! आपकी वाणी में जैसे अमृत भरा है। आपके इस आशीर्वाद ने मेरे दग्ध हृदय को चन्दन की-सी शीतलता पहुँचाई है। आप कौन हैं?

उप०—मेरा नाम उपगुप्त है बेटी !

शीला—पिता जी से मैं बहुत बार आप का ज़िक्र सुन चुकी हूँ भगवन् !

चित्रा—(निकट आकर) आचार्य उपगुप्त को मेरा प्रणाम हो !

उप०—तुम्हीं चित्रा हो राजकुमारी !

चित्रा—जी हाँ ! हमारा सौभाग्य है कि हम आपके दर्शन कर सकीं।

उप०—मेरा आश्रम यहाँ से निकट ही है। मैं कुमारी शीला को अपने यहाँ आने के लिए निमन्त्रण देने आया हूँ।

चित्रा—मगर हम लोग तो यहाँ से आज ही रवाना हो रहे हैं आचार्य !

उप०—मेरे अनुरोध से क्या तुम लोग यहाँ दो-एक दिन और नहीं ठहर सकोगे ?

चित्रा—जैसा साम्राज्ञी की आज्ञा हो।

उप०—शीला ! बेटी ! मेरा निमन्त्रण स्वीकार नहीं करोगी ? तुम्हारे पिता दीपवर्धन मेरे बचपन के मित्र थे। वह मुझे भाई कहकर पुकारा करते थे।

(शीला चित्रा की ओर देखती है।)

चित्रा—शीला दिन-प्रति-दिन कमज़ोर होती जा रही है। मैं चाहती थी कि किसी अच्छे वैद्य से इसकी परीक्षा करवाऊँ। सुना है, आपके आश्रम में पहुँच कर असाध्य-से-असाध्य रोगी भी रोगमुक्त हो जाते हैं। तब तीन दिनों के लिए शीला को आप अपने आश्रम में ले जाइए

आचार्य जी ! हम लोग इतने समय तक यहाँ और इन्तज़ार कर लेंगे।

शीला—(चित्रा से) बहन ! मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है, जैसे आचार्य उपगुप्त के रूप में मैंने अपने पिता जी को पा लिया ! इतनी करुणामयी और इतनी दयापूर्ण दृष्टि तो मैंने और किसी की नहीं देखी। (आँखों में आँसू भर आते हैं।)

चित्रा—अधीर न होओ बहन !

[आचार्य उपगुप्त शीला के सिर पर हाथ रख कर उसे आशीर्वाद देते हैं और वह उनके चरणों में झुक जाती है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—आचार्य उपगुप्त का आश्रम।

समय—साँझ।

(आचार्य उपगुप्त के सम्मुख शीला बैठी है।)

उपगुप्त—पिछली सभी बातें बिलकुल भूल जाओ बेटी !

शीला—मैं बहुत यत्न करती हूँ, मगर मुझे सफलता नहीं मिलती भगवन् !

उपगुप्त—भूतकाल की सम्पूर्ण स्मृतियों को एक जगह बन्द करके उस पर ताला लगा दो। फिर उधर झाँक कर देखो भी नहीं। समझ लो कि तुम्हारा जन्म हुए अभी सिर्फ़ तीन ही दिन हुए हैं। यह आश्रम तुम्हारी जन्मभूमि है। मैं तुम्हारा पिता हूँ। इस आश्रम के निवासी तुम्हारे भाई-बहन और बन्धु हैं।

शीला—रह-रह कर मेरे जी में शोक की आँधी-सी उठ खड़ी होती है। उसे कैसे दमन करूँ पिता जी !

उप०—मैं ने कहा न, कि समझ लो, तुम्हारे कभी कुछ था ही नहीं। वे सब लोग चले गए तो उनके साथ ही साथ वह शीला भी चली गई। वह शीला चली गई, जो लाड़-प्यार करती थी, मान करती थी और शासन करती थी। उसकी जगह एक दूसरी शीला आगई है, जो उपगुप्त जैसे फ़क़ीर की बेटी है, सेवा करना जिस का व्रत है और परोपकार जिस की साधना है। एक अध्याय समाप्त हो गया। यह दूसरा अध्याय है।

शीला—और मेरे हृदय में प्रतिहिंसा की जो तेज़ ज्वाला भभक उठती है, उसका क्या करूँ भगवन्!

उप०—तुम्हारी इस प्रतिहिंसा प्रवृत्ति का स्वरूप क्या है शीला?

शीला—यही कि जिस व्यक्ति ने छल-कपट से, धोखे-बाज़ी से और नृशंसता से मेरा सर्वस्व हरण कर लिया है, वही व्यक्ति आज मगध-साम्राज्य का भाग्यविधाता बना हुआ है। मेरे जी में आता है कि अपना सर्वस्व होम कर भी यदि मैं उस व्यक्ति का घमण्ड तोड़ सकूँ, उससे बदला ले सकूँ, तो इससे मेरे दग्ध हृदय को शान्ति प्राप्त होगी।

उपगुप्त—शान्ति की यह कल्पना झूठी मृगतृष्णा के समान है बेटी!

शीला—अपने जी को कैसे समझाऊँ, आचार्य?

उप०—इस विश्व में सभी जगह छल, कपट, हत्या और अपहरण हो रहा है। प्रकृति अपने विधान-द्वारा प्राणि-मात्र को अपहरण का सन्देश दे रही है। यहाँ बलशाली निर्बल को खा जाता है। बड़ी मछली छोटी मछली को

निगल जाती है। साँप और छिपकलियाँ कीड़े-पतंगों को खाकर ज़िन्दा रहते हैं। बड़े जीवों का आहार छोटे जीव है। जहाँ तक जिस का बस चलता है, अपहरण करता है। प्रकृति के इन विधानों से मनुष्य ने भी अपहरण का पाठ पढ़ लिया है। हमारे मनुष्य समाज में भी धनी ग़रीब को चूसता है, राजा प्रजा के बल पर शक्तिशाली बनता है, ज़मींदार किसानों के अधिकार का अपहरण करता है, विद्वान् मूर्खों को अपना शिकार बनाता है। अपहरण के इस विश्वव्यापी षड्यन्त्र में तुम भी क्या एक पुर्ज़ा बन कर रहना चाहती हो शीला ?

शीला—मैं आप की बात समझी नहीं गुरु जी !

उप०—अपने को पहचानो बेटी ! तुम चेतन हो, तुम स्वतन्त्र हो, अपने ज्ञान को उद्बुद्ध करो; तुम्हें यह स्पष्ट दिखाई दे जायगा कि छल-कपट और हत्या से भरी इस दुनिया का स्वयं भी एक पुर्ज़ा बन जाने में कोई आनन्द नहीं है। इस तरह हत्या और अपहरण करके व्यक्ति अपने को और अधिक छोटा, और भी अधिक कायर, और भी अधिक दुखी बना लेता है। यह मार्ग शान्ति का मार्ग नहीं है शीला ! भगवान तथागत का उपदेश है कि अपने को दूसरों में पहिचानो, इसी से तुम्हें शान्ति प्राप्त होगी।

शीला—यह किस तरह होगा ?

उप०—देखो बेटी, देने में जो सुख है, वह लेने में नहीं है। माता अपने पुत्र के लिए, स्त्री अपने पति के लिए जो स्वार्थत्याग करती है, उससे बढ़कर सुख इस दुनिया में और कहाँ मिलेगा। हृदय की जिस कोमलतम अनुभूति का

नाम 'प्रेम' है, वह सिर्फ़ 'देना ही देना' नहीं तो और क्या है ? फिर भी कौन कह सकता है कि प्रेम से बढ़ कर मीठी और सुखपूर्ण अनुभूति इस दुनिया में कोई दूसरी भी है। प्रतिदान की यह प्रवृत्ति मनुष्य को ऊँचा बनाती है। तुम प्रतिहिंसा की बात कहती हो शीला। प्रतिहिंसा किस से ? इस दुनिया में किसका अहंकार अक्षुण्ण बना रहा है। किस मनुष्य के दिल में कोई दर्द नहीं है, कोई टीस नहीं है। इस दुर्बल मनुष्य के प्रति प्रतिहिंसा की भावना रखने का अभिप्राय ही क्या है ! तुम अपने ज्ञान को उद्‌बुद्ध करने का प्रयत्न करो। तुम्हें यह बात समझ आ जायगी कि इस दुखी दुनिया के घावों में मरहम-पट्टी बन जाने में जो सुख है, वह घाव लगाने में नहीं है। समझीं बेटी ?

शीला—मैं प्रयत्न करूँगी कि आप की शिक्षाओं के अनुसार आचरण करूँ।

उप०—और देखो शीला ! तुम सुमन को चाहती थीं ?

शीला—यह बात भी क्या बताने की आवश्यकता होगी आचार्य ?

उप०—ठीक है, परन्तु बताओ, तुम्हारे हृदय का वह स्नेहभाव अब किधर है ?

शीला—जब वह ही नहीं रहे !

उप०—सुमन का देह तो सचमुच नहीं रहा बेटी ! मगर उनके प्रति तुम्हारे हृदय की समर्पण-भावना के साथ तो अब भी मौजूद है। सुमन को तुम खोजना चाहती हो, तो वह दुनिया के दुखी और पीड़ित व्यक्तियों के रूप में तुम्हें

दर्शन देंगे। यह कठिन साधना निभा सकोगी शीला! यह कर सकोगी तो घट-घट में तुम्हें सुमन के दर्शन होंगे।

शीला—मैं प्रयत्न करूँगी पिता जी!

उप०—भगवान बुद्ध तुम्हें शान्ति दें।

(कुछ क्षण रुक कर)

मगर शीला, यहाँ आए आज तुम्हें तीन दिन पूरे हो गए। राजकुमारी चित्रा आज तुम्हारी प्रतीक्षा में होंगी।

शीला—मैं अब वहाँ नहीं जाऊँगी। आपके आश्रम को छोड़ कर कहीं नहीं जाऊँगी। बहन चित्रा को मैं अभी चिट्ठी लिख देती हूँ कि वह विद्रोह करने का इरादा छोड़ दें और स्वयं पाटलीपुत्र को लौट जायँ। मैं यहाँ से कहीं और नहीं जाऊँगी।

उप०—मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ बेटी! तुम्हारा संकल्प पूरा हो और तुम्हें सच्ची शान्ति प्राप्त हो!

चौथा दृश्य

स्थान—कामरूप की उपत्यका का एक गाँव।

समय—मध्याह्न-पूर्व।

[एक हरे-भरे ऊँचे पहाड़ की तराई में भीलों का गाँव बसा हुआ है। गाँव के बाहर स्वच्छ जल की एक झील है। इस झील के किनारे बरगद के एक घने पेड़ की छाया में, राजकुमार तिष्य बहुत-से भील बालकों के बीच बैठा है। भीलों का सरदार भी वहाँ मौजूद है। आस्मान में बादल छाए हुए हैं। झील के पानी में हँस केलि कर रहे हैं। वृक्षों के घने झुरमुटों में कहीं अदृश्यरूप से बैठी कोयल कुहुक रही है।]

एक भील बालक—हम सब लोग तुम्हें राजकुमार क्यों कहते हैं ?

तिष्य—मेरे पिता एक राजा थे।

बालक—सचमुच !

दूसरा बालक—ऊँह, हम नहीं मानते। उस दिन तुम ने जो कहानी सुनाई थी, उस के राजकुमार के पास उड़ने वाली एक खड़ाऊँ थी। उस के सिर पर प्रकाश का चक्र बना रहता था। तुम्हारा यह सब कहाँ है ? तुम वह राजकुमार कहाँ हो ! तुम्हारा तो यह नाम है।

तिष्य—ठीक है, मेरा तो बस यह नाम ही है।

तीसरा बालक—आप हमें राजकुमारों की कहानियाँ सुनाया करते हैं, इसी से न आपका नाम राजकुमार पड़ा है।

तिष्य—मगर मुझे यह नाम पसन्द नहीं, मेरा यह नाम बदल दो।

एक भील—नहीं, आप हमारे राजकुमार हैं। हम आपको सदा इसी नाम से पुकारेंगे।

सरदार—आपने हमें मनुष्य बनना सिखाया है। आप जब से यहाँ आए हैं, हमारा गाँव सब गाँवों से आगे बढ़ गया है। यहाँ अब बीमारी नहीं फैलती, लोग भूखों नहीं मरते, आपस में नहीं लड़ते। आप हमारे राजकुमार ही नहीं, हमारे राजा भी साथ ही हैं।

तिष्य—(एक ठण्डी साँस लेकर) परमात्मा राजा किसी को न बनाए।

एक बालक—यह क्यों राजकुमार !

तिष्य—इस बात को जाने दो । अच्छा, बालको एक खेल खेलोगे ?

अनेक बालक—जी हाँ, ज़रूर ।

एक बालक—मगर उस से पहले एक कहानी सुना दीजिए ।

तिष्य—अच्छा मैं तुम्हें एक कहानी सुनाता हूँ । फिर हम सब मिल कर उसी का खेल खेलेंगे ।

बालक—हाँ, हाँ, ज़रूर ।

तिष्य—एक राजा था ।...एक बहुत बड़ा राजा था, इतना बड़ा, जितना और किसी कहानी का नहीं था । उसके तीन लड़के थे । जब वह मरने लगा तो उसने अपने बड़े लड़के को बुला कर कहा कि मैं तो अब चला हूँ । मेरे बाद तुम अपने दोनों छोटे भाइयों को अपने पुत्रों के समान समझना । बड़ा भाई राजा के पास था, बाकी दोनों भाई बहुत दूर, परदेश में गए हुए थे । जब राजा मर गया तो बड़े लड़के को बड़ा दुख हुआ । उसने अपना दुख हलका करने के लिए अपने दोनों भाइयों को अपने पास बुला भेजा । मँझला भाई परदेस से पहले वापस लौटा । बड़े भाई को जब उसके आने का समाचार मिला तो वह उसका स्वागत करने के लिए महल से बाहर निकला । अपने भाई को देखते ही उसका आलिंगन करने के लिए उसने अपनी बाहुएँ फैला दीं । परन्तु मँझले भाई ने उसी समय फुर्ती के साथ एक छुरा निकाला और अपने बड़े भाई की छाती में झोंक दिया ।

अनेक बालक—(भयभीत होकर) ओहो ! उसके बाद ?

तिष्य—बड़ा भाई मर गया और मँझला भाई उसकी जगह राजा बन बैठा।

एक बालक—राक्षस कहीं का ! फिर ?

तिष्य—सब से छोटा भाई अभी मार्ग में ही था कि उसे यह समाचार मिला। वह घबरा गया, उसे राज्य से ही घृणा हो गई। वह उसी वक़्त जंगलों में भाग गया।

एक बालक—ओह, बड़ा डरपोक था !

तिष्य—डरपोक क्यों था। वह और करता ही क्या ?

एक बालक—अपने भाई से बदला लेता।

तिष्य—भाई से बदला लेता ! ख़ैर, जाने दो। अब यह खेल शुरू करो। बोलो कौन राजा बनेगा ?

एक बालक—मैं राजा बनूँगा ?

तिष्य—अच्छा बड़ा भाई कौन बनेगा ?

दूसरा बालक—मैं बनूँगा।

तिष्य—अच्छा, मँझला भाई कौन बनेगा ?

(सब बालक चुपचाप बैठे रहते हैं।)

तिष्य—मँझला भाई बनने को कोई तैयार नहीं ?

तीसरा बालक—वह राक्षस था !

चौथा बालक—अच्छा, आप क्या बनेंगे ?

तिष्य—मैं तीसरा भाई बनूँगा।

एक बालक—(हँस कर) मगर आप भागेंगे कैसे ?

तिष्य—देख लेना, मैं कितना अच्छा भागता हूँ। अच्छा, मँझला भाई बनने को कोई तैयार नहीं है ?

(सब बालक चुपचाप बैठे रहते हैं)

[इसी समय वर्षा शुरू हो जाती है। सब बालक हू-हा करते हुए भाग जाते हैं। तिष्य भी उठ खड़ा होता है और उस वर्षा में ही झील के किनारे अकेला जाकर खड़ा हो जाता है।]

तिष्य—कितना सुन्दर दृश्य है। बादलों से घिरा यह ऊँचा पहाड़ कितना सुहावना जान पड़ता है। झील के इस शान्त और स्वच्छ जल पर वर्षा की ये नन्हीं-नन्हीं बूँदें इस तरह पड़ रही हैं, जैसे एक समतल चिकने-से विशाल स्तर पर हज़ारों छोटी-छोटी कीलें एक साथ जड़ी जा रही हों। और अपने पंख फैला कर इधर-उधर तैरते हुए ये हंस तो जीवित कला के समान जान पड़ते हैं। सब ओर सन्नाटा है, शान्ति है, व्यवस्था है और सुन्दरता है।

···और मेरा भाई अशोक! वह सचमुच राक्षस है! अशोक, तुमने मुझे मनुष्य से घृणा करना सिखा दिया था, परन्तु इन भीलों ने पुनः मेरे हृदय में यह धारणा बना दी है कि मनुष्य स्वभाव से सच्चा, निष्कपट और उदार-हृदय है।··· इन्हें हम असभ्य कहते हैं! हमारी सभ्यता का आधार ही छल, कपट और दम्भ है। हृदय की सरलता और भावुकता को कम करते जाने का नाम ही सभ्यता नहीं तो और क्या है!

······और मैं यहाँ कहाँ? कोई नहीं जानता कि राजकुमार तिष्य अब भी ज़िन्दा है! अच्छा है, मैं इसी में खुश हूँ। इन लोगों का राजकुमार बन कर रहने में सचमुच आनन्द है। नियति! भाग्य! इसे और क्या कहूँ! मगर वह कापालिक! वह अजीब व्यक्ति था। उसने जो कुछ कहा,

सब सच निकला। भाग्य की बात है कि मेरा मन्त्री भी उस दिन से ठीक साठवें दिन ही मरा !

[सहसा वर्षा बड़े जोरों से पड़ने लगती है। तिष्य को दूर से एक अस्पष्ट-सी आवाज सुनाई पड़ती है]

(नेपथ्य से) राजकुमार ! तुम कहाँ हो !

तिष्य—मैं अभी आया सरदार !

(प्रस्थान)

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—पाटलीपुत्र के राजमहल का अन्तःपुर।

समय—गोधूली-वेला।

[साम्राज्ञी तिशी बहुत ही उदासीभरा गम्भीर भाव धारण किए बैठी है, और अन्तःपुर का प्रधान परिचारक उन के सामने खड़ा है।]

परिचारक—उज्जैनी की यह गायिका बड़े ही करुण गीत गा कर सुनाती है साम्राज्ञी ! उसका कण्ठस्वर भी बड़ा मधुर है। यदि आप आज्ञा दें तो वह आप के सन्मुख अपनी कला दिखा कर अपने को कृतकृत्य समझेगी।

साम्राज्ञी—मुझे यह सब कुछ भी पसन्द नहीं। वह युद्धक्षेत्र में खतरे से घिरे हुए हैं और यहाँ बैठ कर संगीत का आनन्द लूँ।

परि०—वह आपके दर्शनों के लिए बड़ी उत्सुक है साम्राज्ञी !

तिशी—कह दो, मेरा जी अच्छा नहीं है।

परि०—(उदास भाव से) जैसी आपकी आज्ञा !

(जाने लगता है)

तिशी—अच्छा, उसे यहाँ भेज दो।

परि०—आपका अनुग्रह!

(प्रस्थान)

तिशी—कलिंग का यह महायुद्ध, मालूम होता है, अभी बरसों तक चलेगा। इतना समय बीत गया, अभी किसी पक्ष के कमज़ोर पड़ने के लक्षण ही नज़र नहीं आते। परमात्मा उनकी रक्षा करे।

(गायिका का प्रवेश। वह साम्राज्ञी को प्रणाम करती है)

साम्राज्ञी—यहाँ कैसे आना हुआ?

गायिका—संसार भर का ऐसा कौन-सा कलाविद् होगा, जिसके जी में यह महत्वाकांक्षा उत्पन्न न हुई कि वह मरने से पहले एक बार पाटलीपुत्र के दर्शन अवश्य कर ले। विश्व-भर की विद्याओं और कलाओं का केन्द्र यह नगर सचमुच बड़ा गरिमाशाली है। मुझे प्रतीत होता है, जैसे मैं अपने कल्पनामय स्वप्न-प्रदेश में आ गई हूँ।

साम्राज्ञी—आपके संगीत की बड़ी तारीफ़ सुनी है। आपसे मिल कर मैं कृतार्थ हुई।

गायिका—कुछ सुनेंगी साम्राज्ञी!

साम्राज्ञी—सुनाओ।

(गायिका गाती है)

गीत

नहीं आज बादल,—गगन श्याम निर्मल
सुधा से नहाती खड़ी मेदिनी है,
उमड़ती नदी;—खेल चञ्चल हैं चिड़ियाँ
छिड़ी विश्व में प्यार की रागिनी है।

खिली फूल-कलियाँ, खिले चन्द्र-तारा
हवा मस्त है, चाँदनी खिल रही है
जगत मुग्ध-मन; प्रेम-मदिरा में प्रीतम
तुम्हारा हृदय फिर खिला क्यों नहीं है ??
वही अनमनापन, वही हाय चिन्ता
किधर से उदासी उमड़ कर चली है,
किनारा किए वे गए हैं उधर क्यों ?
हृदय में सदा की वही बेकली है।
अधिक है न तड़पन, न अब और जलना
बिना स्नेह के दीप कब तक जला है !!
न देखी उषा हाय ! जीवन तमोमय
अँधेरा सघन और होता चला है !

साम्राज्ञी—तुम्हारे इस गीत ने मेरे हृदय में तूफ़ान-सा खड़ा कर दिया है गायिका ! तुम सचमुच धन्य हो, तुम्हारी कला धन्य है !

गायिका—मैं कृतार्थ हुई साम्राज्ञी ! यह सब आपकी दया है।

साम्राज्ञी—(परिचारक से) इन्हें विश्राम-गृह में ले जाओ। (गायिका से) कल प्रातःकाल आप पुनः यहाँ आने का कष्ट कीजिएगा।

(दोनों का प्रस्थान।)

साम्राज्ञी—मेरे जी में कुछ सूनापन-सा था,

जिसे इस गायिका के मधुर और करुण संगीत ने छू-सा दिया है। मेरे गृहस्थ-जीवन के दस वर्ष व्यतीत हो गए, मगर अपने जी में एक विशेष तरह का अभाव, एक विशेष तरह का सूनापन मैं अभी तक अनुभव करती हूं। भाग्य ने मुझे इस महासाम्राज्य की साम्राज्ञी बना दिया है। मगर फिर भी मेरे चित्त को शान्ति नहीं है। इसमें क्या उनका दोष है? नहीं, वह सम्राट् हैं, वह वीर हैं, उन्हें पचासों तरह के काम रहते हैं। मैं ही हूँ, जो बिलकुल व्यर्थ हूँ, अपदार्थ हूँ।... वह युद्धभूमि में हैं! परमात्मा उन की रक्षा करे। उन्होंने हज़ारों दिलों को दुखाया है। ओफ़, उन पर इतने लोगों की बद्दुआएँ होंगी। प्रभो! उन की सज़ा मुझ अकेली को देना! (सहसा नेपथ्य में से बिलकुल नीरस हँसी की आवाज़ सुनाई देती है। साम्राज्ञी चौंक उठती है।) यह तो चित्रा की आवाज़ है, वह क्या इधर ही आरही है! ओह, अभागिनी राज-कुमारी! इस बेचारी का जी टूट गया है।

(गुन-गुनाते हुए विक्षिप्त चित्रा का प्रवेश)

चित्रा—बस, अब थोड़ी-सी कसर बाकी है। अब सब समाप्त हो जायगा।

सम्राज्ञी—मेरा प्रणाम स्वीकार करो बहन!

चित्रा—(विचित्र ढंग से देख कर) तिश्शी! नहीं, सम्राज्ञी! तुम हो? देखो अब सब समाप्त हो जायगा?

सम्राज्ञी—क्या समाप्त हो जायगा।

चित्रा—शीघ्र ही एक भयंकर भूकम्प आयगा और उसमें सभी कुछ समाप्त हो जायगा।

सम्राज्ञी—अपने भाई के लिए मंगलकामना करो बहन!

चित्रा—मेरा भाई ? मेरा एक भाई वहाँ है ! (हाथ से ऊपर की ओर इशारा करती है) और दूसरा भाई मालूम नहीं किधर गया ?

साम्राज्ञी—तुम्हारे वह भाई, जो कलिंग-युद्ध में गए हैं।

चित्रा—उसकी प्यास अभी नहीं बुझी। वह अभी और .खून पीएगा। ख़याल रखना, मैं कहे देती हूँ। (धीरे-से) सँभल कर रहना, मैं अभी से बता देती हूँ; कलिंग के लोगों की हत्या करके जब वह लौटेगा, तब वह यहाँ भी हत्या ही करेगा। (और भी धीरे-धीरे तथा निश्चयपूर्ण स्वर से) मेरी भी ! तुम्हारी भी ! सभी की !

(साम्राज्ञी काँप जाती है।)

साम्राज्ञी—उन्हें माफ़ कर दो बहन ! आख़िर वह भी तुम्हारे भाई हैं।

चित्रा—(ज़रा जोश के साथ) माफ़ कर दूँ, उस हत्यारे को ! उस राक्षस को ! नहीं हरगिज़ नहीं। मैं उसे बद्दुआ दूँगी। मैं उसे शाप दूँगी। मैं उसे बद-दुआ देती हूँ कि······ (फिर वह इस तरह बोलने लगती है, जैसे वह केवल अपने ही से कह रही हो) मगर नहीं, शीला ने कहा था, उन्हें बद्दुआ मत देना ! नहीं, बद्दुआ नहीं दूँगी !······शीला ! सुमन !!

[इसी समय सम्राट् अशोक का पुत्र कुणाल, जिस की उम्र अभी चार साल की है, माँ ! माँ ! कहता हुआ उसी जगह आ जाता है। चित्रा कुणाल का एक चुम्बन लेकर तेजी से भाग जाती है और साम्राज्ञी सिर झुकाए खड़ी रह जाती है। वह कुणाल की ओर भी ध्यान नहीं देती। थोड़ी ही देर बाद नज़दीक के उद्यान के लता-कुञ्जों में से एक बहुत ही करुण गान की ध्वनि सुनाई देने लगती है। पहले यह ध्वनि अस्पष्ट-सी है, उसके बाद स्पष्ट हो जाती है।

कुणाल—माँ! यह क्या है?

तिशी—बेटा, तेरी बूआ गा रही है।

कुणाल—मेरी बूआ! (डर जाता है।)

(चित्रा के गीत की आवाज़ अब बिलकुल स्पष्ट हो जाती है।)

गीत

नहीं चाह कुछ न रही तृषा, न हृदय में कोई .ग़ुबार है
सभी मिट गई मेरी हसरतें, न मुझे घृणा है न प्यार है।
कभी मैं भी मानो तरंग थी, मेरा दिल था—एक उमंग थी
न समझ सकी कि उजड़ गई, क्यों यह ज़िन्दगी की बहार है।
न रुपहला चाँद जहाँ खिला, न सितारा है—न दिया जला
मेरी ज़िन्दगी है कि रात है, जहाँ घोर तम का प्रसार है।
न मैं ले सकी प्रतिशोध ही—न मरी, मैं ज़िन्दा बनी रही
मुझे प्यास .ख़ून की क्यों नहीं?—मेरी जीत है कि यह हार है।
मेरा दिल किसी ने बदल दिया, कि न जाने क्या मुझे हो गया
मुझे शोक है नहीं कुछ दया, रहा बदले का न विचार है।

तिशी—दुनिया में जो करुण से भी करुण दृश्य हैं, यह उन सबसे बढ़कर करुण है! ओह, अभागिनी चित्रा! तुम्हें मैं क्या कह कर आश्वासन दूँ!

(इसी समय कुणाल रो पड़ता है। तिशी पुचकार कर उसे गोद मे उठा लेती है।)

छठा दृश्य

स्थान—तुशाली का राजपथ ।

समय—सायंकाल ।

[नगर में सब कहीं मातम-सा छाया हुआ है। राजमार्ग पर बहुत कम लोग आते-जाते दिखाई दे रहे हैं। एक लूला भिखारी एक बालक और एक बालिका को साथ लिए राजमार्ग के किनारे भीख मांग रहा है। दोनों बच्चे एक गीत गा रहे हैं।]

गीत

गगन में सजल श्याम बदली झुकी है, दिशायें मलिन,—दूर आँधी उठी है,
न आया भिखारी अभी तक नगर में, विकल दीन कन्या अकेली कुटी है।
—बड़ी दूर तक हाय ! सुनसान वन है, उमड़ती चली आ रही है—अँधेरी
सभी जा चुके हैं, तुम्हीं घर न आये, वही हाय ! कब तक लगाओगे फेरी !!
चले लौट आओ पिता दुःखिनी के, उसे चाह कुछ अन्न-जल की नहीं है,
उसे है नहीं माँ, न है बन्धु-भगिनी, तुम्हीं में धरे प्राण वह जी रही है।
गरजने लगे मेघ बुँदियाँ टपकतीं, हवा थरथराती झपटती चली है,
कभी कौंधती नील नागिन सरीखी, गगन बीच बिजली कड़क ले चली है।
नगर के इधर हों कहीं खण्डहर में, कि नीचे किसी पेड़ के हों भिखारी
कहीं भीजते आ रहे हों न पथ पर, यही सोचती मार्ग देखे बिचारी।
धरा-व्योम पर, इस हृदय बीच बाहर, चतुर्दिक सघन तम बिछा जा रहा है
चमकता कभी कौंध में वन्य पथ है,—न उस पर कहीं से कोई आ रहा है।
नहीं आये बिटिया !—पड़ी राह सूनी, किसे ताकती द्वार पर तू खड़ी है,
चली आ उधर बैठ भीतर सम्हल कर, विकट मेघ गर्जन भयानक झड़ी है।
नहीं आज दुर्दिन में कोई सहायक, खड़ी बालिका इस विजन में अकेली
हटा अन्धतम, थाम बेटी हृदय को, जला ले तनिक दीप करले उजेला।
कहाँ ध्यान है ? गूढ़ चिन्ता है किसकी ?—किसे सोचती तू सिसकती खड़ी है ?
किसे खोजती इस अँधेरी में दुखिया ! मधुर याद किस गोद की इस घड़ी है !!

(इस बीच में ५-६ पथिक उस भिखारी के निकट खड़े हो जाते हैं ।)

भिखारी—भगवान् के नाम पर कुछ दया करो बेटा !

पहला पथिक—इन बच्चों के स्वर में अभी से कितनी कसक और कितनी वेदना भरी है !

दूसरा पथिक—तुशाली के यदि आज सुदिन होते, तो इस भिखारी के सन्मुख सोने का ढेर लग गया होता ।

तीसरा पथिक—तुम कौन हो भिखारी !

भिखारी—मुझ ग़रीब का परिचय जान कर क्या करोगे ?

तीसरा पथिक—यह गीत इन बच्चों को किस ने सिखाया है ?

भिखारी—मैंने ।

पहला प०—(आश्चर्य से) तुमने ! तुमने इसे कहाँ सुना ?

भिखारी—यह मेरा ही बनाया हुआ है ।

पहला प०—भिखारी, तुम सच-सच कहो, तुम कौन हो ?

भिखारी—बेटा, कभी मैं तुशाली की सेना के नायकों में गिना जाता था । अब तो मैं एक भिखारी ही हूँ !

दूसरा प०—ओहो ! प्रतीत होता है, तुम्हारे हाथ इसी युद्ध में जाते रहे हैं ।

भिखारी—महाराज पर, देश पर, जन्मभूमि पर, आफ़त आई हुई है बेटा ! मगर मैं अब लाचार हो गया हूँ, इस तरह भिख माँगने के अतिरिक्त मैं और कर ही क्या सकता हूँ । (आँखों में आँसू भर आते है ।)

चौथा पथिक—तुम्हें युद्ध में चोट कब लगी थी ?

भिखारी—गत वर्ष ।

चौथा पथिक—उसके बाद ?

भिखारी—उसके बाद, चिकित्सालय से विदा होते ही मुझे छुट्टी दे दी गई। मैं और कर भी क्या सकता था बेटा! युद्ध-भूमि से घर चला आया। तीन महीने तक मुझे राज्य की ओर से गुज़ारे लायक धन मिलता रहा। परन्तु उसके बाद वह बन्द होगया। हमारा देश ख़तरे में है। राज-कोश खाली होगया है। सारे राज्य में जवान आदमी देखने को भी नहीं मिलते। सब तरफ़ महामारी और अकाल का आधिपत्य है; इस दशा में मैं महाराज को क्यों दोष दूँ। बेटा! यह तो मेरा कर्मफल है।

पहला पथिक—इन बच्चों माँ नहीं है क्या ?

भिखारी—इनकी माँ को मरे आज छः महीने हो गए। वह बेचारी जब तक जीती रही, उसने हमें भीख नहीं माँगने दी। वह बड़े कुलीन घर की लड़की थी बेटा! मगर उसके सभी सम्बन्धी इसी युद्ध में काम आ चुके थे। वह जब तक रही, स्वयं भूखी रह कर इन बच्चों का पेट पालती रही। स्वयं सब तकलीफ़ें उठा कर उसने हमें तकलीफ़ों बचाया। मगर अन्त में वह इतनी कमज़ोर हो गई कि वह बीमार पड़ गई। मैं कुछ भी न कर सका और वह देवी अपने पिता के पास चली गई। उसके बाद मैंने लाचार होकर यह पेशा स्वीकार कर लिया।

पहला पथिक—तुम कुछ पा जाते हो बाबा ?

भिखारी—कुछ नहीं मिलता यह तो कैसे कहूँ। तुशाली के नागरिक बड़े दयावान् हैं। वे ग़रीब की, अपाहिज की पुकार अवश्य सुनते हैं। मगर अब तो यहाँ ज़िन्दा आदमी

ही कितने बचे हैं ? और जो बचे हैं; उनमें से कितने ऐसे हैं, जिनमें एक सिक्का भी देने की सामर्थ्य बाकी हो। अभी मेरा तो काफ़ी अच्छा हाल है। इन बच्चों पर, इनकी आवाज़ पर, लोग तरस खा जाते हैं। परन्तु मुझे ऐसे लोगों का भी पता है, जो कभी तुशाली के सम्पन्न नागरिक हुआ करते थे, आज वे भूख से तड़प-तड़प कर जान दे रहे हैं।

(सभी पथिक उस भिखारी को कुछ-न-कुछ देते हैं।)

भिखारी—भगवान् तुम्हारा भला करे बेटा !

(प्रस्थान)

सातवाँ दृश्य

स्थान—कलिंग की युद्धभूमि।

समय—रात का प्रथम प्रहर।

[आकाश में शुक्ला त्रयोदशी का चाँद चमक रहा है। जहाँ तक निगाह जाती है, युद्ध-भूमि में विनाश के चिह्न दिखाई देते है। टूटे हुए रथों की भर-मार है। मरे हुए मनुष्यों तथा घोड़ों की लाशें सैकड़ों की संख्या में बिखरी पड़ी हैं। घायलों के चीत्कार से आस्मान भर रहा है। सुदूर दक्षिण में अशोक की सेना के शिवर की रोशनी दिखाई दे रही है और सुदूर उत्तर में कालिंग की सेना की। युद्धक्षेत्र में आचार्य उपगुप्त तथा शीला अनेक बौद्ध भिक्षुओं के साथ घायलों की सेवा का कार्य कर रहे हैं। सभी बौद्ध भिक्षुओं ने श्वत-वस्त्र धारण किए हुए हैं, और सभी लोग बिलकुल चुप हैं। किसी को पानी पिलाया जारहा है, किसी की मरहम-पट्टी की जा रही है और किसी को गाड़ी पर लाद कर चिकित्सालय के शिविर की ओर भेजा जा रहा है।]

[सहसा शीला काम करते-करते थक कर रुक जाती है और अनायास ही उसके मुँह से एक ठण्डी आह निकल पड़ती है।]

आचार्य उपगुप्त—क्या है बेटी !

शीला—यह भयानक जन-संहार कब समाप्त होगा पिता जी !

उप०—कुछ कह नहीं जा सकता शीला। मानव हृदय का अहंकार इस लड़ाई के मूल में है। व्यक्ति का अहंकार जब फैल कर समाज या जाति का अहंकार बन जाता है, तब उस की जड़ें पाताल तक चली जाती हैं। दोनों पक्षों में से जब तक एक पक्ष के अहंकार का पूर्ण नाश न हो जायगा, तब तक यह लड़ाई बन्द न होगी।

शीला—ओह, कितना भयंकर दृश्य है! रोज़ दोनों तरफ़ के अच्छे-भले, खाते-पीते तन्दुरुस्त आदमी इस मैदान में आकर जमा होते हैं और कुछ घण्टों के बाद ही यहाँ सैकड़ों लाशों और हज़ारों घायलों को छोड़ कर और कुछ भी नहीं बचता! दो बरस हो गए, यह युद्ध समाप्त होने में ही नहीं आया। नौबत यहाँ तक पहुँच गई है कि दिन भर में जितने लोग मरते हैं, उन की लाशों की भी अब कोई परवाह नहीं करता। यदि हमारे भिक्षु इन सब लाशों को लेजाकर ज़मीन में न गाड़ दिया करते होते, तो अब तक इस मैदान में आकर साँस लेना भी असम्भव हो गया होता।

उप०—मनुष्य कितना दुर्बल है! एक छटाँक का एक ही तीर उस के प्राण हर लेने के लिए काफ़ी है। फिर भी मनुष्य को इतना घमण्ड है कि वह अपने सन्मुख विश्व-भर में किसी को कुछ नहीं समझता।

शीला—आप इस भयंकर युद्ध को बन्द करने का प्रयत्न क्यों नहीं करते पिता जी?

उप०—मैं कर ही क्या सकता हूँ शीला ?

शीला—आप सम्राट् अशोक को जाकर समझाइए। मुमकिन है, वह आप की बात सुन लें।

उप०—दो वर्षों तक इतनी तकलीफ़ें झेलते रहने के बाद, और अपने पक्ष के हज़ारों सैनिकों की बलि दे चुकने के बाद वह कभी मेरे कहने-मात्र से अपना इरादा बदल सकता है बेटी!

शीला—मेरा ख़याल है आप की बात इस दुनिया में कोई नहीं टाल सकता पिता जी!

उप०—(ज़रा कोमल भाव से) अच्छा बेटी, एक बात पूछूँ तो उस का सही-सही उत्तर दोगी ?

शीला—पूछिए।

उप०—अशोक के प्रति तुम्हारे हृदय में क्या अभी तक प्रतिहिंसा के भाव बाकी हैं ?

शीला—(ज़रा लज्जित स्वर में) प्रतिहिंसा तो नहीं, इसे घृणा और भय का-सा भाव कहना चाहिए। मुझे भय प्रतीत होता है कि उन के प्रति मेरे हृदय में फिर से प्रतिहिंसा की भावना जागृत न हो जाय। इसी भय से मैं कभी उन की याद भी नहीं करती। मैं सदा प्रयत्न करती हूँ कि उन का नाम भी मेरे कानों में न पड़े। मुझे यह भी याद न रहे कि एक ऐसा व्यक्ति इस दुनिया में मौजूद है, जिसने मुझे पीड़ा पहुँचाई थी। और इस में मुझे सफलता हुई है पिता जी!

उप०—तुम मानवी नहीं, देवी हो शीला!

[शीला लज्जित होकर पुनः घायलों की सेवा के कार्य में लग जाती

है। सहसा कुछ ही दूर चल कर एक लाश पर उस की दृष्टि पड़ती है। कलिंग के किसी युवक सेनानायक की यह लाश है। इस युवक के चेहरे पर शीला को कोई ऐसी असाधारणता प्रतीत होती है कि वह उसे ध्यान से देखने लगती है।]

शीला—(परीक्षा करके) नहीं, कुछ भी आशा नहीं है। यह कभी का समाप्त हो चुका। ओह, कितना स्वस्थ युवक था।

[सहसा उसकी निगाह उस सैनिक के जेब में उभरे हुए एक कागज़ पर पड़ती है। शीला वह कागज़ खींच लेती है।]

शीला—नायक !

एक भिक्षु—(समीप आकर) आज्ञा कीजिए माता !

शीला—इस कागज़ को ज़रा पढ़ो तो !

भिक्षु—(पढ़ता है) "प्राणनाथ ! सन्देश-वाहक के हाथ यह पत्र तुम्हारी सेवा में भेज रही हूँ। देखो नाथ, तुम कितने निठुर हो, तुमने प्रतिज्ञा की थी मंगलवार तक तुम यहाँ पहुँच जाओगे और आज शनिवार हो जाने पर भी तुम नहीं आए। परमात्मा करे, तुम पर कष्ट की हल्की-सी छाया भी न पड़े। मेरे देवता, हमारे विवाह को अभी एक महीना भी नहीं हुआ। अभी से तुम इतने निठुर हो गए ! लिखो, कब आओगे ? मैं दिन-रात द्वार पर बैठ कर तुम्हारी प्रतीक्षा किया करती हूँ। तुम कुछ बाकायदा सैनिक तो हो नहीं कि इच्छा होने पर भी घर न आ सको। मेरी शपथ, एक बार अपनी सूरत मुझे दिखा जाओ। मेरा जी बहुत उद्विग्न हो रहा है।—विजया।"

शीला—ओह अभागिनी नारी ! इस पत्र पर तारीख़ कौन-सी है ?

भिक्षु—यह पत्र कल ही तुशाली से लिखा गया है।

शीला—यह इसके दूसरी ओर क्या लिखा है ?

भिक्षु—(देख कर पढ़ता है) "प्यारी, युद्ध-भूमि में काग़ज़ नहीं मिलते, इससे तुम्हारे पत्र की पीठ पर ही जवाब लिख रहा हूँ। मैं अब तक क्यों नहीं आया, यह मिलने पर ही बताऊँगा, यहाँ इतना संकेत ही पर्याप्त है कि हमारी मातृ-भूमि पर बहुत शीघ्र महासंकट आने की पूरी सम्भावना है। बोलो, क्या मुझे अनुमति न दोगी कि मैं मातृभूमि की, माता की, पुकार पर ध्यान दूँ। इस मंगलवार को, यानी परसों, अवश्य तुम्हारी सेवा में पहुँच जाऊँगा।"

शीला—इस वीर की लाश रथ पर रक्खो, मैं स्वयं इसे इसके घर तक पहुँचा आऊँगी।

भिक्षु—जो आज्ञा।

[रथ आता है और एक भिक्षु को साथ लेकर लाश सहित शीला उसमें सवार हो जाती है।]

(दृश्य बदलता है)

स्थान—तुशाली की एक अट्टालिका का आँगन।

समय—आधी रात।

[उस युवक सैनिक की लाश आँगन में पड़ी है, उसके पास ही सैनिक की पत्नी युवती विजया अस्तव्यस्त वेश में आँगन में खड़ी शीला से बातें कर रही है।]

विजया—यह तुम्हें कहाँ मिले माँ ?

शीला—कलिंग के युद्धक्षेत्र में।

विजया—इनमें सचमुच जीवन बाकी नहीं है क्या ?

शीला—सब समाप्त होगया बहन !

विजया—नहीं, नहीं। वह देखो, किस तरह मेरी ओर देख रहे हैं?

शीला—धैर्य करो अभागिनी नारी!

विजया—नहीं, वह मुझे छोड़ कर कभी नहीं जा सकते। उन्होंने मुझसे वायदा किया था कि वह शीघ्र ही यहाँ आएँगे।

शीला—विजया, वह ऐसी जगह चले गए हैं, जहाँ से कोई लौट कर नहीं आता।

विजया—मेरे हाथों को देखता[illegible] अभी ब्याह की मेंहदी भी नहीं उतरी। नहीं, नहीं वे ज़िन्दा हैं, वह मुझे छोड़ कर कभी नहीं जा सकते।

शीला—व्यर्थ का मोह मत करो बहन! मुझे मालूम है, भाग्य ने तुम्हें कितनी गहरी चोट पहुँचाई है। मगर धैर्य रक्खो, सहन करो। और किया भी क्या जा सकता है।

विजया—हे प्रभो! जो कुछ मैं देख रही हूँ वह आधी रात का झूठा सपना नहीं है क्या?

शीला—बहन, आज सारा मगध-साम्राज्य और सम्पूर्ण कलिंग इसी दुख से दुखी है। घर-घर में मातम छाया हुआ है। तुम धैर्य धारण करो। तुम्हारे स्वामी वीर पुरुष थे। उन्होंने अपने कर्तव्य के सम्मुख जीवन की परवाह नहीं की!

विजया—उफ़!...परमात्मा, मेरी आँखों के आगे अँधेरा छाता चला जा रहा है। यह कैसी तीव्र व्यथा है। स्वामी! प्राणनाथ! तुम कहाँ हो?

शीला—(*युवती के कन्धे पर हाथ रखकर*) धीरज करो बहन!

विजया—(पागलों के-से भाव से) हाँ, मैं समझी। इन्हें वह राक्षस अशोक खा गया है। खूनी! हत्यारा! वह सारी तुशाली को खा जायगा। वह इस सम्पूर्ण विश्व को खा जायगा। राक्षस! पिशाच!

[शीला सहसा अनुभव करती है कि उसके हृदय का पुराना शोक उमड़ पड़ना चाहता है। वह विजया को उसके रिश्तेदारों की देख-रेख में छोड़ कर स्वयं वहाँ से चली जाती है।]

पटाक्षेप

पाँचवाँ अंक

पहला दृश्य

स्थान—युद्धभूमि में अशोक का खेमा।

समय—प्रभात।

[सम्राट् अशोक अपने खेमे के बाहर धीरे-धीरे टहल रहे हैं। दूर पर सैनिक बाजा बज रहा है।]

अशोक—आखिर चण्डागिरी भी मारा गया। पिछले बरसों में वह मेरा दाहिना हाथ बन कर रहा है। मगर उसके मर जाने पर भी मुझे रंज नहीं हो रहा। ऐसा अनुभव होता है, जैसे किसी दानव के पंजों से मुझे छुटकारा मिल गया हो। कितना प्रचण्ड शक्तिशाली था वह! उसने मेरी स्पष्ट आज्ञा के प्रतिकूल मेरे भाई की हत्या कर दी, फिर भी मैं उसे कुछ भी न कह सका। दम्भ, छल, हत्या—ये सब चीज़ें उसके लिए नितान्त साधारण बातें थीं। मगर मेरे प्रति वह सदा सच्चा रहा। उसने जो कुछ किया, सदा मेरे लिए ही किया और बिलकुल निष्काम भाव से किया। तक्षशिला नगर की प्रजा के क्रोध से मैंने उसकी रक्षा की थी, उसका बदला उसने अपने प्राणों को होम कर चुका दिया।...मगर वह मेरे भाई का हत्यारा था!...जाने दो, जो चला गया, उसकी याद करने का स्थान संग्रामभूमि नहीं है।

(नए सेनापति मौखरी का प्रवेश।)

मौखरी—(सैनिक ढंग से नमस्कार करके) सम्राट् की जय हो!

अशोक—क्या समाचार है सेनापति ?

मौखरी—दक्षिण की ओर से कालिंगराज ने अपनी सेना वापस बुला ली है। आज उस ओर युद्ध नहीं होगा।

अशोक—यह शुभ समाचार है सेनापति। इसका कारण तुमने सोचा ?

मौखरी—जी हाँ ! मेरा ख़याल है कि कलिंगराज आज अपनी सम्पूर्ण सम्मिलित शक्ति से उत्तर की ओर से आक्रमण करेंगे।

अशोक—मेरा यह ख़याल नहीं। मुझे विश्वास है कि इस में कालिंगराज की कोई गहरी चाल है। ख़ैर, देखा जायगा। और कोई बात ?

मौखरी—सम्राट्, कलिंग की सेना का बहुत बुरा हाल है; परन्तु हमारी सेना भी आजकल कम कष्ट में नहीं है।

अशोक—क्यों, हमारी सेना को क्या कष्ट है ?

मौखरी—भोजन और वस्त्र दोनों की कमी हो गई है।

अशोक—चण्डगिरी इस कमी का क्या इलाज करता था ?

मौखरी—वह कालिंगराज के आस-पास के गाँवों को ज़बरदस्ती लूट कर अपना काम चलाते थे।

अशोक—तुम भी वही करो।

मौखरी—मगर इस समय इस युद्धभूमि के चारों ओर के ३० मीलों में, केवल तुशाली को छोड़कर, एक भी नगर या गाँव बाकी नहीं बचा है। सब उजड़ गए हैं सम्राट् !

अशोक—सैनिकों को ३० मील से और आगे बढ़ जाने का आदेश दो।

मौखरी—उन गाँवों में भी स्त्रियों, बच्चों और बूढ़ों को छोड़ कर और कोई नहीं बचा।

अशोक—हम यह सब कुछ नहीं जानते। कहीं से प्रबन्ध करो। यह प्रबन्ध तो करना ही होगा। मामूली-सी दया-माया के पीछे मैं इतने दिनों की मेहनत बरबाद नहीं कर सकता। देखो, तुम्हें मालूम है न, कि पूरे दो सालों तक चण्डगिरी ने इस युद्ध का सेनापतित्व सम्भाला, उसने एक बार भी यह शिकायत मुझ से नहीं की।

मौखरी—परिस्थितियाँ क्रमशः अधिक-अधिक विकट होती जा रही हैं महाराज!

अशोक—हम यह सब कुछ नहीं सुनेंगे। परिस्थितियाँ विकट हो रही हैं तो कलिंगराज की शक्ति भी अब तक बहुत क्षीण हो चुकी है। जाओ, चाहे जहाँ से और जैसे हो सके, इस का इन्तज़ाम करो।

मौखरी—जो आज्ञा सम्राट्!

(प्रणाम करके प्रस्थान)

अशोक—मैं संसार-भर में अत्याचारी अशोक के नाम से प्रसिद्ध हूँ। माताएँ अपने बच्चों को मेरा नाम लेकर डराती हैं। मेरी गणना अकाल और महामारी के साथ की जाती है। सुबः उठ कर कोई मेरा नाम भी नहीं लेना चाहता। फिर क्यों न मैं भी अत्याचार की पराकाष्टा करके ही दिखा दूँ। मेरे उद्धार की एक ही आशा थी, एक ही किरण थी। वह मेरी भाभी शीला!...मगर वह भी तो अपने हृदय में मेरे प्रति अनन्त रोश का भाव लेकर कहीं चली गई! नहीं, मैं अपने हृदय पर नियन्त्रण रक्खूँगा;

में उसकी पुण्यस्मृति को भी भुला दूँगा। उसकी निगाह में भी तो मैं एक महा-भयंकर पिशाच हूँ।...मानव जाति! सन्नाटा थाम कर देखो। अशोक आज मगध साम्राज्य का स्वच्छन्द अधीश्वर है। वह ऐसे-ऐसे काम करेगा कि आने वाली पीढ़ियाँ भी उसके नाम से थर्राया करेंगी।

(प्रस्थान)

दूसरा दृश्य

स्थान—कलिंग-राज्य का एक गाँव।

समय—दोपहर।

[अशोक के सैनिक गाँव को लूट रहे हैं। सब ओर हा-हाकार मचा हुआ है। एक मुहल्ले में सैनिकों ने आग लगा दी है, उस की लपटें और गहरा धूआँ दूर से दिखलाई पड़ रहा है। स्त्रियाँ, बच्चे और बूढ़े गाँव छोड़-छोड़ कर भागे जा रहे हैं। इन भाग रहे व्यक्तियों में नवयुवक कहीं कोई दिखाई नहीं देता।]

एक बालक—(अपनी माँ से) मैं बिलकुल थक गया हूँ माँ! अब और नहीं दौड़ा जाता।

स्त्री—इस गाँव को अशोक लग गया है बेटा! दौड़ो, जान की बाज़ी लगा कर दौड़ो! वह देखो, अशोक गाँव को आग लगा रहा है! तुम तो बड़े बहादुर हो मेरे राजा! शाबास, दौड़े चलो।

बालक—ओह, कितनी गरमी है! पानी! पानी!!

स्त्री—हे प्रभो! मुझ अभागिनी की रक्षा करो। एक बच्चा मेरी गोद में है, इस दूसरे बालक को मैं कैसे गोद में उठा सकती हूँ। (बालक से) बेटा, थोड़ी-सी हिम्मत करो।

नदी तक पहुँच जायँगे तो वहाँ भर-पेट पानी मिल जायगा। (बालक रोते हुए फिर से दौड़ने लगता है।)

[दक्षिण की ओर से ५, ६ स्त्रियाँ और १०, १२ बच्चे भाग कर उसी जगह आ जाते हैं।]

एक युवती—(एक वृद्धा से) अब मैं और नहीं दौड़ सकती माँ! मेरा जी घबरा रहा है। (बैठ जाती है।)

वृद्धा—हे परमात्मा, तू कहाँ है! मेरा जवान बेटा युद्ध में मारा गया। उसकी पत्नी गर्भवती है और आज दोपहर की इस तेज़ गरमी में उसे घर-बार छोड़ कर इस तरह भागना पड़ रहा है! प्रभो, तुम्हारा वह चक्र आज कहाँ सो रहा है, जिस से तुम दुष्टों का, अत्याचारियों का नाश किया करते थे! (युवती से) बेटी, हिम्मत न हारो। थोड़ी देर आराम कर लो।

युवती—(आँखों में आँसू भर कर) मा! तू मुझे अपनी गोद में क्यों नहीं बुला लेती।

वृद्धा—धैर्य धारण करो बेटी! (अपनी पुत्री से) तुम अपनी भाभी को सहारा देकर चलाओ!

कन्या—बहुत अच्छा माता जी।

[वह युवती उठ खड़ी होती है और अपनी ननद के सहारे लड़खड़ाती हुई चलने लगती है। सब लोग धीरे धीरे आगे बढ़ते ही हैं कि उसी समय दूसरी ओर से तीन सिपाहियों की एक टोली आकर उन का मार्ग रोक लेती है।]

एक सैनिक—ठहरो!

[सब स्त्रियाँ भयभीत होकर रुक जाती हैं। किसी-किसी की भय के कारण चीख़ निकल जाती है।]

दूसरा सैनिक—तुम्हारे पास जो कुछ है; वह हमें दे दो !

एक स्त्री—हमारे पास कुछ भी नहीं है।

वृद्धा—(क्रोध से) तुम लोग सैनिक हो या लुटेरे !

एक सैनिक—चुपचाप खड़ी रह। चीं-चपर करेगी तो मार खाएगी !

दूसरा सैनिक—(युवती के आभूषणों की ओर देख कर) तुम ने ये आभूषण कैसे पहन रक्खे हैं। इन्हें उतार कर हमें दे दो।

वृद्धा—(हाथ जोड़ कर) यह मेरी पुत्रवधू है महाराज ! यह गर्भवती है; से तंग न कीजिए। इस के बदले चाहे मुझे सौ जूतियाँ मार लीजिए।

एक सैनिक—अब गिड़गिड़ाने लगी। पहले बकवास करती थी। (युवती से) उतारो अपने सब आभूषण !

[युवती भय से काँपने लगती है। उससे खड़ा नहीं रहा जाता। वह वह उसी तपी हुई बालू पर ही बैठ जाती है। इसी समय एक वृद्ध का प्रवेश।]

वृद्ध—यह क्या हो रहा है ? (परिस्थिति समझ कर, सैनिकों से) तुम आदमी हो या पिशाच !

पहला सैनिक—बकोगे तो यह डण्डा तुम्हारी खबर लेगा।

वृद्ध—डराता किसे है नालायक। स्त्रियों और बूढ़ों पर अपना रोब जमाने आया है। खबरदार ! जो तुमने किसी स्त्री पर हाथ उठाया। कहे देता हूँ, मैं मरूँगा भी, तो तुममें से एक-न-एक को ज़रूर साथ लेकर मारूँगा।

तीसरा सैनिक—(अपने साथियों से) सेनापति मौखरी की आज्ञा है कि जहाँ तक हो सके बच्चों, स्त्रियों और बूढ़ों पर अत्याचार मत करो।

पहला सैनिक—अब तुम भी धरम बघारने लगे।

वृद्ध—शाबाश सैनिक, देखता हूँ तुम्हारे भी हृदय है।

[इसी समय दोनों सैनिक उस बूढे पर आक्रमण कर देते हैं। वह पैतरे बदल-बदल कर अपना बचाव करने लगता है। सहसा विजया का प्रवेश। उसके हाथों में एक तेज छुरा है।]

विजया—(निकट आकर) यह क्या हो रहा है ?

वृद्धा—(रोते हुए) इस बूढ़े की सहायता करो बेटी ! ये दोनों पिशाच हम स्त्रियों पर अत्याचार कर रहे थे, इन्होंने रोका तो अब इन्हीं पर पिल पड़े।

विजया—(रोष के साथ) ठहरो !

[दूसरा सिपाही आश्चर्य से विजया की ओर देखने लगता है। इसी समय वृद्ध महाशय एक लाठी कस कर पहले सैनिक के सिर पर जमाते हैं। उसे काफी चोट पहुँचती है। वह गिर पड़ता है। दूसरा सैनिक तत्काल वृद्ध पर आक्रमण कर देता है। तब विजया दूसरे सैनिक की पीठ में छुरा घोंप देती है।]

दूसरा सैनिक—हाय ! (गिर कर मर जाता है।)

[सब स्त्रियाँ भाग जाती हैं। तीसरा सिपाही अब भी उसी तरह चुपचाप खड़ा रहता है।]

तीसरा सैनिक—(विजया से) अभी थोड़ी देर में यहाँ और सैनिक आ जाएँगे। तुम यह छुरा यहीं छोड़ कर कहीं भाग जाओ।

विजया—नहीं, मैं अपने प्राण बचाने नहीं आई। अपने

प्राण देने आई हूँ। देखती हूँ, तुम में हृदय है। तुम अपने सेनापति को ऐसे अत्याचार करने से रोकते क्यों नहीं ?

तीसरा सैनिक—सेनापति इस तरह के अत्याचार पसन्द नहीं करते। यह इनकी अपनी शैतानियत है। सीमाप्रान्त के ये सैनिक बड़े निर्दय हैं।

(इसी समय दूर पर कुछ और सैनिक दिखाई देते हैं।)

सैनिक—अब भी मौका है। तुम यह छुरी फेंक कर भाग जाओ बहन !

विजया—नहीं सैनिक, मैं आज यहाँ दीन-दुखियों की सेवा में अपने प्राण देने आई हूँ; मुझे जीने की इच्छा बिलकुल नहीं है।

[तीन सैनिक वहाँ और आ पहुँचते हैं। विजया उन पर आक्रमण कर देती है। वे चकित रह जाते हैं। उनमें से किसी के हाथ में छुरा या तलवार नहीं, सभी के हाथों में डंडे ही है। इस लिए वे सब अपना बचाव करते हुए एक ओर को हटने लगते हैं और क्रमशः सभी लोग आँखों से ओझल हो जाते हैं।]

तीसरा दृश्य

स्थान—आचार्य उपगुप्त के सेवादल का खेमा।

समय—सूर्यास्त।

(कुमारी शीला एक चर से बातें कर रही है।)

शीला—यह पक्की खबर है न ?

चर—जी हाँ। पक्की खबर है।

शीला—अशोक के तम्बू पर षड्यन्त्रकारी किस समय धावा करेंगे ?

चर—धावा नहीं होगा। ठीक ११ बजे सम्राट् के शरीर-रक्षकों का पहरा बदलता है। उस समय जो नए शरीर-रक्षक वहाँ पहुँचते हैं, वे सब भी इस षड्यन्त्र में सम्मिलित हैं। इस षड्यन्त्र की जड़ें दूर-दूर तक फैली हुई हैं राज-कुमारी! बीसियों व्यक्ति इसमें सम्मिलित हैं।

शीला—उन लोगों का इरादा क्या है?

चर—उसके बाद तो उनके लिए बड़ी आसान राह निकल आएगी। उन्हें ज्ञात है कि सम्राट् कभी अपने तम्बू में प्रकाश करके नहीं सोते। उजेले में उन्हें नींद ही नहीं आती. बस ११ बजे से १२ बजे के बीच में एक शरीर रक्षक अन्दर जायगा और एक ही वार से सम्राट् के शरीर के दो टुकड़े कर देगा।

शीला—उसके बाद?

चर—उसके बाद कलिंगराज कल प्रातःकाल ही अपनी बची खुची सेना का संग्रह करके सम्राट् के शिबिर पर भयंकर आक्रमण कर देंगे।

शीला—और यदि यह षड्यन्त्र असफल हो जाय तो?

चर—कलिंगराज को अपने इस षड्यन्त्र की सफलता का पूरा भरोसा है। फिर भी उन्होंने निश्चय कर लिया है कि यदि इस चाल में उन्हें सफलता न हुई तो वह कल ही अशोक की अधीनता स्वीकार कर लेंगे?

शीला—इस समय कितने बजे होंगे!

चर—आठ बजने वाले हैं राजकुमारी।

शीला—अच्छा, जाओ।

(चर का प्रस्थान)

शीला—(उद्विग्न भाव से धीरे-धीरे टहलना शुरू कर देती है) यह कैसी अनुभूति है! अब से एक ही प्रहर के अन्दर अशोक का वध कर दिया जायगा। परन्तु मुझे क्या! इस युद्ध में किसी भी पक्ष को किसी तरह की सहायता न देने की हम लोगों की प्रतिज्ञा है, इसी प्रतिज्ञा के आधार पर तो दोनों पक्षों ने हमें यह सेवा कार्य करने की अनुमति दी थी। कलिंगराज के इस षड्‌यन्त्र में बाधा उपस्थित करना मेरा कार्य नहीं है। ···मगर क्या सचमुच अशोक को मर जाने दूँ?···नहीं, जी नहीं मानता। मैं चाहूँ तो उसका जीवन बचा सकती हूँ।···वह युवराज का हत्यारा है! उसने मेरा सर्वस्व नाश कर दिया! उसने इस हरे-भरे कलिंग को एक विशाल श्मशान के रूप में परिणत कर दिया है! उसकी जैसी किस्मत हो, भुगते। मैंने जब उसके मार्ग में बाधा नहीं पहुँचाई, तब उसके विरोधियों के कार्य में कैसे बाधा पहुँचाऊँ?···तो क्या सचमुच अशोक को मर जाने दूँ?···तीन ही घण्टे के बाद अशोक संसार में नहीं रहेगा। यह कैसी अनुभूति है! मुझे खुशी हो रही है, रंज हो रहा है या चिन्ता हो रही है?—कुछ भी समझ नहीं आता। नहीं, मैं यह सब भुला दूँगी! मुझे इस युद्ध की घटनाओं से कोई वास्ता नहीं। और मैं कर भी क्या सकती हूँ। अशोक को सूचना दे दूँ तो वह क्रोध में आकर कत्लेआम करवा देगा। इतनी भीषण नरहत्या का उत्तर-दायित्व मैं अपने पर कैसे ले सकती हूँ।···मगर क्या सच-मुच मैं कुछ नहीं कर सकती? (सहसा उसके चेहरे पर एक विशेष प्रकार का दैवीय उल्लास-सा दिखाई देने लगता है और वह खुशी

से नाच उठती है) आहा, मुझे अपना कर्तव्य सूझ गया। ठीक है, ठीक है। मेरी साधना आज समाप्त हो जायगी। अशोक, मेरे देवर, मैंने तुम्हें क्षमा कर दिया। मैं आज अपनी परीक्षा में उत्तीर्ण होऊँगी और तुम्हें मृत्यु के मुँह से बचा लूँगी।

(उपगुप्त का प्रवेश)

शीला—आहा, पिता जी, आप आगए, मैं आपके पास जाने ही वाली थी।

उप०—तुम आज इतनी खुश क्यों दिखाई दे रही हो शीला!

शीला—मेरा हृदय आज इतना प्रसन्न है, जितना वह बरसों से नहीं हुआ था।

उप०—वह तो देख ही रहा हूँ बेटी! तुम्हारे चेहरे पर आज स्वर्गीय आभा दिखाई दे रही है। तुम इतनी प्रसन्न क्यों हो शीला?

शीला—आपने कलिंगराज के षड्यन्त्र का समाचार सुन लिया है न पिता जी!

उप०—(ज़रा संकोच के साथ) ओहो, तो क्या वही समाचार सुन कर तुम इतनी प्रसन्न हो रही हो?

शीला—आज मेरी साधना पूरी हो जायगी! आहा, यह कितनी प्रसन्नता है!

उप०—मैं तुम्हारी बात नहीं समझा बेटी।

शीला—मैं आज अशोक की जगह अपने प्राण देने जारही हूँ आचार्य!

उप०—(काँप कर)—ऐसा क्यों बेटी, अशोक का जीवन बचाने का क्या और कोई उपाय नहीं है ?

शीला—मुझे तो और कोई उपाय नहीं सूझा। और फिर मैं अपने जीवन से इतना मोह किस लिए करूँ।

उप०—तुम जो कुछ करना चाहोगी, मैं उस से तुम्हें रोकूँगा नहीं बेटी! प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए स्वयं अपना मार्ग बनाता है। परन्तु मैं इतना अवश्य कहूँगा कि संसार को अभी तुम्हारी आवश्यकता बहुत अधिक है। तुम्हारे बिना यह संसार अभागा और दुखी बन जायगा बेटी! (स्वर काँपने लगता है !)

शीला—पिता जी, यह क्या; आप भी अधिर हो उठे हैं !

उप०—नहीं बेटी, मैं सब कुछ सहन कर लूँगा। ओह, मेरा मस्तक आज गर्व से ऊँचा हो रहा है। ओह, तुम कितनी महान हो शीला ! मैं तुम्हारे सामने बिलकुल तुच्छ हूँ।

शीला—आप मुझे लज्जित करते हैं पिता जी !

उप०—मेरे जी में सैकड़ों बार यह बात आई है; मगर मैंने सदा प्रयत्न किया है कि तुम्हारे सन्मुख तुम्हारी प्रशंसा न करूँ। मगर आज नहीं रहा जाता। ओह, शीला ! तुम कितनी महान हो। जो देश तुम्हारे जैसी देवी को जन्म दे सकता है, वह धन्य है।

शीला—बहुत थोड़ा समय बाकी है, पिता जी ! आप से मैं केवल एक बात में सहायता चाहती हूँ।

उप०—कहो।

शीला—किसी तरह आप इस बात का प्रबन्ध कर दीजिए कि सम्राट् अशोक आज रात के १२ बजे तक अपने कैम्प से बाहर रहें। और यह बात किसी को मालूम न होने पाए।

उप०—(कुछ देर तक सोच कर) अच्छा, मैं यह प्रबन्ध कर लूँगा। परन्तु मुझे एक बात और भी सूझी है; क्यों न सम्राट् को हम लोग १२ बजे तक वहाँ से दूर रक्खें। और तुम भी वहाँ मत जाओ। षड्यन्त्रकारी अन्धकार में उनके पलंग पर वार करेंगे, उन्हें कहाँ मालूम पड़ेगा कि उन के वार का परिणाम क्या हुआ है ?

शीला—नहीं पिता जी, वे इतने मूर्ख न होंगे कि यह समझ न जाँय कि उनका वार ख़ाली बिस्तरे पर पड़ा है या किसी व्यक्ति की देह पर। फिर उसका परिणाम भी कितना भयंकर होगा। अशोक को जरा भी सन्देह होगया तो वह सम्पूर्ण कलिंग में एक भी व्यक्ति को जीता नहीं छोड़ेगा। पिता जी, मैं आप से अनुरोध करती हूँ, प्रार्थना करती हूँ कि आप मुझे अपने निश्चय से विचलित न कीजिए।

उप०—जी नहीं मानता बेटी! मगर नहीं, मैं सब सहन करूँगा।

शीला—आपने क्या प्रबन्ध सोचा है ?

उप०—अपने विश्वस्त चर के हाथ अभी मैं अशोक के नाम पर इस आशय की एक चिट्ठी भेजता हूँ कि यदि वह कल ही कलिंग-युद्ध को समाप्त हो गया देखना चाहता है, तो गुप्त रूप से चर के साथ इसी समय मेरे पास आ जाय। सम्राट् के यहाँ आने के समाचार को पूरी तरह गुप्त रखने

के लिए मैं उन्हें कहला दूँगा कि चर के साथ एक व्यक्ति मैं और भेज रहा हूँ। उस व्यक्ति से कपड़े बदल कर वह छद्म-वेश में यहाँ आ जाएँ। उनके शरीर-रक्षकों को भी यह ज्ञात न होने पाए कि सम्राट् कहीं बाहर गए हैं। तुम मरदाने वेश में चर के साथ चली जाओ और ऐसा प्रबन्ध कर लेना कि सम्राट् के दिल में किसी तरह का सन्देह पैदा किए बिना तुम उनसे अपने मरदाने कपड़े बदल सको। मुझे मालूम है कि मेरे बौद्ध होने पर भी सम्राट् मुझ पर विश्वास करते हैं। वह अवश्य मेरी बात मान लेंगे।

शीला—बहुत ठीक। अच्छा, मुझे अब आशीर्वाद दीजिए पिता जी! (उपगुप्त के सामने घुटने टेक कर बैठ जाती है।)

उप०—(आँखों में आँसू भर कर) बेटी, मैं तुम्हें क्या आशीर्वाद दूँगा! तुम्हीं इस संसार को, इस अभागी मनुष्य जाति का यह आशीर्वाद दो कि वह इन व्यर्थ के लड़ाई-झगड़ों से अपने को और भी दुखी न बनाए।

[उपगुप्त एक हाथ से अपने आँसू पोंछते हैं, और दूसरा हाथ वह शीला के झुके हुए मस्तक पर रख देते हैं।]

चौथा दृश्य

स्थान—आचार्य उपगुप्त के तम्बू के भीतर।

समय—रात के ११ बजे।

अशोक—अब तो ११ भी बज चुके। आप अभी तक बताते क्यों नहीं?

उप०—थोड़ी देर और धैर्य रक्खो अशोक; मैं तुम्हारे

कल्याण के लिए ही इतना विलम्ब कर रहा हूँ और ठहरो।

अशोक—कुछ समझ नहीं आता। आपके पास ऐसी भी क्या बात हो सकती है, जिसके लिए किसी ख़ास शुभ या अशुभ मुहूर्त की दरकार हो। फिर आप तो मुहूर्तों का यह पचड़ा मानते भी नहीं हैं।

उप०—आज आधी रात तक तुम मेरे अतिथि हो। इतना समय तुम मेरी इच्छानुसार काट सको तो इस में बुराई ही क्या है। ख़ास तौर से जब इसी आतिथ्य के बदले कल तुम्हारी दो बरसों की मेहनत सफल हो जायगी। तुम्हें नहीं मालूम कि इस एक-एक क्षण में हम लोग तुम्हारे लिए कितना बड़ा त्याग कर रहे हैं।

अशोक—कुछ समझ नहीं आता!

(कुछ क्षणों तक दोनों चुप बैठे रहते हैं। उसके बाद)

अशोक—मेरी एक बात का जवाब देंगे भगवन्!

उप०—पूछो।

अशोक—पाटलीपुत्र को छोड़ कर भाभी शीला ने आप ही के यहाँ तो आश्रय लिया था?

उप०—ठीक है।

अशोक—वह अब कहाँ है?

उप०—उनसे मिलना चाहते हो?

अशोक—जी हाँ। सच तो यह है कि उन्हें देखने की उत्सुकता, उनसे क्षमायाचना करने की इच्छा मेरे उद्विग्न हृदय की सब से बड़ी लालसा है। अशोक इस दुनिया में यदि किसी व्यक्ति से आँखें मिलाने में घबराता है तो

अपनी इसी भाभी से। संसार-भर में अशोक यदि किसी की इज़्ज़त करता है तो अपनी इसी भाभी की।

उप०—इसी समय अपनी भाभी से मिलना चाहते हो?

अशोक—(ज़रा घबराए हुए से स्वर में) वह यहाँ कहाँ हो सकती है?

उप०—वह तुम्हारे अपने, निजू तम्बू में है।

अशोक—आप तो दिल्लगी करते हैं, आचार्य!

उप०—मैं दिल्लगी नहीं करता अशोक! अपने सम्पूर्ण जीवन में आज की इस भयानक रात से बढ़ कर अधीर और गम्भीर मैं और कभी नहीं हुआ।

अशोक—आपकी कोई बात समझ नहीं आती भगवन्! कृपा करके मुझ से पहेलियाँ न बुझवाइए।

उप०—सुनो, अब तुम से कहने का समय आ गया है। सुनो अशोक, आज कुछ लोगों ने तुम्हारी हत्या का भयंकर षड्यन्त्र रचा था। षड्यन्त्रकारियों के सम्बन्ध में मैं तुम्हें कुछ न बताऊँगा। बस इतना ही समझ लो कि उस षड्यन्त्र के सफल हो जाने में कोई सन्देह नहीं था। हाँ, तुम्हें यह तो ज्ञात है न, कि शीला यहाँ ही थी और वह हमारे सम्पूर्ण स्वयंसेवकों की संचालिका थी।

अशोक—(चकित होकर) वह आपके साथ युद्धभूमि में थी? जिस माता की चरचा हमारे सम्पूर्ण सैनिक बड़ी श्रद्धा के साथ किया करते हैं, वह क्या शीला ही थी?

उप०—हाँ अशोक, वह शीला ही थी। आज सूर्यास्त के समय शीला को इस षड्यन्त्र की पूरी सूचना प्राप्त हो गई थी। तब उसके सामने तीन मार्ग खुले थे। या तो वह

तुम्हारा वध हो जाने देती। यह तो तुम जानते ही हो कि हम लोग दोनों पक्षों को इस बात का वचन दे चुके हैं कि हम युद्ध की किसी बात में कोई दख़ल नहीं देंगे। इसलिए यदि शीला भी यही करती तो उसे कोई दोष न दे सकता। दूसरा यह कि शीला तुम्हें उस षड्यन्त्र की सूचना दे देती। उस दशा में तुम स्वभावतः सतर्क रहते और उन सबका वध करवा डालते। और तीसरा यह कि शीला तुम्हारी जगह अपनी बलि देकर तुम्हें और षड्यन्त्र-कारियों को—दोनों को बचा लेती। अशोक, शीला ने इसी तीसरे मार्ग का अवलम्बन किया है।

अशोक—यह किस तरह आचार्य ? शीला कहाँ है ? जल्दी बताइए, वह कहाँ है ?

उप०—उद्विग्न मत होओ अशोक ! मुझे मालूम है, नरहत्या तुम्हारे लिए एक बिलकुल मामूली बात हो गई है। कोई ज़िन्दा है या मर गया, इसकी तुम्हें ज़रा भी परवाह नहीं। सुनो, *(भरे हुए स्वर में)* रात का दूसरा प्रहर अब समाप्त होने को है। शीला सम्भवतः अब तक तुम्हारी जगह अपने प्राण दे चुकी होगी !

अशोक—*(उछल कर खड़ा हो जाता है)* किस जगह ? मैं उसे किस जगह खोजूँ ?

उप०—*(बड़ी धीमी आवाज़ में)* जिस व्यक्ति से तुमने अपनी पोशाक बदली थी, उसको तुम्हें याद है न। वही शीला थी। वह तुम्हारे तम्बू में इसी लिए ठहर गई थी कि तुम्हारी जगह स्वयं अपने प्राण दे सके। तुम्हें यहाँ लाने का एक-मात्र उद्देश्य उस षड्यन्त्र से तुम्हारी जीवन-रक्षा करना

ही था। मुझे भय है कि शीला अब तक इस संसार से चली गई होगी ! (गला भर आता है।)

अशोक—ओह !

[अशोक का सारा शरीर काँपने लगता है। वह बड़ी शीघ्रता से तम्बू से बाहर निकलता है। एक घोड़ा तम्बू के बाहर ही बँधा हुआ है। इस घोड़े पर सवार होकर वह की हवा की तेजी से अपने शिविर की ओर रवाना जाता है।]

(दृश्य बदलता है)

स्थान—अशोक का शिविर।

समय—आधी रात।

[सम्पूर्ण शिविर में कोलाहल मचा हुआ है। सम्राट् अशोक के तम्बू के बाहर, एक खुली जगह को घेर कर हजारों सैनिक पंक्ति बद्ध खड़े हैं। मध्य में सैकड़ों उल्काओं का तेज प्रकाश हो रहा है। इस सब के बीचों-बीच शीला की मूर्च्छित देह पड़ी है; उसकी छाती और कन्ध पर भारी घाव पहुँचे हैं। शीला का सम्पूर्ण शरीर खून से लथपथ है। उसके संज्ञाहीन चहरे पर अब भी प्रसन्नता और सन्तोष की छाया दिखाई दे रही है। तीन चार प्रमुख जर्राह उसके घावों की परीक्षा और मरहम-पट्टी कर रहे हैं। शीला के पैरों के निकट मगध महा-साम्राज्य के महान् सम्राट् अशोक बच्चों की तरह फूट-फूट कर रो रहे हैं। उन के बाल अस्त-व्यस्त हो गए हैं। सारा शरीर धूल से भर गया है।]

प्रधान जर्राह—(धीरे से) सम्राट्, धैर्य कीजिए। अभी इन में प्राण बाकी हैं। परमात्मा ने चाहा तो यह होश में आ जायँगी।

अशोक—राजवैद्य, मेरी भाभी को बचा लीजिए। मैं सारी उम्र आपका गुलाम रहूँगा। (वैद्य के सन्मुख हाथ जोड़ देते हैं।)

जर्राह—अधीर न होइए सम्राट्। परमात्मा से प्रार्थना कीजिए कि वह हमारे हाथों में यश दें।

[सम्राट अशोक सचमुच घुटने टेक कर और दोनों हाथ जोड़ कर परमात्मा से प्रार्थना करने लगते हैं। उनके रोने की आवाज तो अब कम हो गई है, परन्तु उनकी सिसकियाँ और भी अधिक करुण होगई हैं।]

अशोक—(सिसकते हुए) पिता, तुम्हारी अनन्त दया से आज मुझ अधम को जो प्रकाश दिखाई दे गया है, उससे मुझे इतना शीघ्र वंचित न कर देना!

(इसी समय सम्पूर्ण बौद्ध-भिक्षुओं सहित आचाय उपगुप्त का प्रवेश।)

[शीला की मूर्च्छित देह को देख कर उपगुप्त यह निश्चित समझ लेते हैं कि वह निर्जीव हो चुकी है। उनका धैर्य छूट जाता है और वह भी धीरे-धीरे, सिसक-सिसक कर रोने लगते हैं। सभी भिक्षु सैनिकों के आगे पंक्ति बाँध कर खड़े हो जाते हैं।]

उपगुप्त—(नजदीक आकर) ओह, बच्ची मेरी! शीला! तुम कहाँ गईं? (दोनों हाथों से मुँह ढँक लेते हैं।)

प्रमुख जर्राह—इनमें अभी प्राण बाकी हैं आचार्य! आप अधीर न हों।

(उपगुप्त के मुँह पर प्रसन्नता की एक हलकी-सी झलक दिखाई देने लगती है।)

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—पाटलीपुत्र का नगर-भवन।

समय—सायंकाल।

(नगर-भवन के आँगन में नागरिकों की भीड़ जमा है।)

एक नागरिक—आज यह अनहोनी बात कैसे होगी

लगी ! सम्राट् नागरिकों की इस भीड़ में आने का साहस कैसे करने लगे हैं ?

दूसरा नाग०—तुम्हें मालूम नहीं है क्या ? सम्राट् अब पहले के सम्राट् नहीं रहे। उनमें बड़ा परिवर्तन आगया है।

तीसरा नाग०—यही न कि उन्होंने आचार्य उपगुप्त से दीक्षा लेकर बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लिया है !

दूसरा नाग०—नहीं, सिर्फ़ इतना ही नहीं। उन्होंने निश्चय कर लिया है कि वह अब अपनी सम्पूर्ण शक्ति प्रजा की भलाई में लगा देंगे।

चौथा नाग०—अजी, यह सब दिखाने की बातें हैं।

पाँचवाँ नाग०—कहावत मशहूर है न, कि सत्तर चूहे खा के बिल्ली तीर्थ करने चली है !

पहला नाग०—मुझे भय है कि आज कोई नागरिक सम्राट् पर आक्रमण ही न कर दे।

चौथा नाग०—ऐसा होगा, तब तो ख़ैर नहीं। अभी से भाग चलना चाहिए। आख़िर है तो वही अशोक न, सभी को जिन्दा भून डालेगा।

[इसी समय सुनाई देता है, 'सम्राट् आगए'। कुछ ही क्षणों में सम्राट् एक ऊँचे चबूतरे पर दिखाई देते हैं। सब लोग खड़े होकर उन्हें प्रणाम करते हैं, और सब ओर शान्ति छा जाती है]

पहला ना०—(धीरे से) सम्राट ने आज यह साधुओं के-से मामूली वस्त्र क्यों पहन रक्खे हैं !

दूसरा ना०—मैंने पहले ही कहा था कि वह बिलकुल बदल गए हैं।

चौथा ना०—साथ में कोई शरीर-रक्षक भी तो नहीं है।

तीसरा ना०—प्रतीत तो ऐसा ही होता है।

पाँचवाँ ना०—चुप रहो, देखो सम्राट् कुछ कहना चाहते हैं।

अशोक—(खड़े हो कर) भाइयो, आज अपने दिल की कुछ बातें आपसे कहने के लिए मैं आपके बीच में आया हूँ। मेरी आप से नम्र प्रार्थना है कि मेरा निवेदन आप लोग ध्यान से सुनें।

[नगर-भवन के आँगन में गहरा सन्नाटा छा जाता है।]

नागरिको, मैंने आप लोगों पर, मगध-साम्राज्य की प्रजा पर, और कलिंग के सम्पूर्ण निवासियों पर अनगिनत और बड़े-बड़े अत्याचार किए हैं। अपनी शक्ति के मद में अन्धा होकर मैं अभी और भी न जाने क्या-क्या अनर्थ और अत्याचार करता, परन्तु एक देवी ने अपने अलौकिक प्रकाश से मेरी आँख की पट्टी खोल दी। उस ने मुझे सच्ची राह दिखा दी। आज मैंने अनुभव कर लिया है कि अपने जीवन में जो भारी अनर्थ मैं अभी तक कर चुका हूँ, उन का प्रायश्चित्त भी नहीं है। परन्तु उसी देवी ने मुझे धैर्य दिया है, मुझे साहस बँधाया है। मैं उस का गुनहगार था, इतना बड़ा गुनहगार था कि अपने उस भारी अपराध को बताते भी मेरी जिह्वा लड़खड़ा जाती है। परन्तु उसने मुझे माफ़ कर दिया! न केवल माफ़ ही कर दिया अपितु मेरे बदले में वह अपनी जान तक देने को तैयार हो गई। भाइयो, अपनी उसी भाभी शीला के आशीर्वाद के बल पर

मैं आज आप से अपने गुनाहों के लिए माफ़ी माँगने आया हूँ। आप चाहें तो मुझे दण्ड दीजिए। मैं उसके लिए भी तैयार हूँ। मेरा कोई शरीर-रक्षक यहाँ नहीं है। मैंने निश्चय कर लिया है कि भविष्य में मैं कभी कोई शरीर-रक्षक अपने साथ नहीं रक्खूँगा। आपमें से यदि कोई भाई मुझसे बदला लेना चाहें, मुझे मेरे पापों की सज़ा देना चाहें, तो वह आगे बढ़कर आएँ और मुझे सज़ा दें। मैं चूँ तक न करूँगा।

[अशोक अपनी गरदन झुका कर खड़े हो जाते हैं। परन्तु कोई नागरिक आगे नहीं बढ़ता।]

अशोक—(गरदन सीधी करके) तो भाइयो, क्या मैं समझ लूँ कि आप सब ने मुझे माफ़ कर दिया ?

सभी नागरिक—सम्राट् अशोक की जय हो !

अशोक—(उत्साह के साथ) पाटलीपुत्र के नागरिको, मैं हृदय से तुम्हारा धन्यवाद करता हूँ। तुमने अपनी महान् उदारता से मुझे उबार लिया। अब मैं निश्चिन्त हो कर अपना यह जीवन अपने महान् गुरु महात्मा बुद्ध के सन्देश को पूरा करने में व्यय कर सकूँगा। भाइयो, आज महात्मा बुद्ध को साक्षी कर मैं यह घोषणा करता हूँ कि भविष्य में मैं इस विशाल मगध-साम्राज्य को अपनी सम्पत्ति नहीं समझूँगा। यह महा-साम्राज्य आप सब की सम्पत्ति है। इस राज्य का उद्देश्य विश्व-भर में धर्म, दया और मनुष्यत्व का प्रचार करना है। इसी उद्देश्य के लिए मैं जीऊँगा और जहाँ तक बन पड़ेगा अपने जीवन के भयंकर पापों का प्रायश्चित्त करने का प्रयत्न करूँगा।

आओ भाइयो, आज हम सब मिल कर संसार को एक नया पाठ पढ़ाना शुरू करें। हम अपने व्यवहार से बता दें कि हमारा यह महा-साम्राज्य राजनीति और शक्ति संघर्ष के लिए नहीं है, यह धर्म के प्रचार के लिए है। और साथ ही साथ हम यह भी सिद्ध करदें कि हमारा यह धर्म सिद्धान्तों का धर्म नहीं, क्रिया का, आचरण का धर्म है। मैं घोषणा करता हूँ कि स्वयं बौद्ध होते हुए भी मैं किसी मनुष्य से इस कारण घृणा नहीं करूँगा, अथवा इस कारण उसे छोटा या अभागा नहीं समझूँगा कि वह बौद्ध नहीं है। आओ भाइयो, आज हम सब मिल कर यह व्रत लें कि हम मनुष्य से घृणा नहीं करेंगे; हम किसी पर अत्याचार नहीं करेंगे। हमारे इस 'धम्म साम्राज्य' का एकमात्र ध्येय होगा, प्राणिमात्र के लिए सेवा और सहानुभूति का व्यावहारिक प्रदर्शन। हम अपने आप कष्ट चाहे भले ही सह लें, परन्तु अपने पड़ोसी को दुखी न होने दें। आओ भाइयो, हम लोग आज यह संकल्प करें कि हम इसी भूमि पर, अपने इसी देश में, स्वर्ग की सृष्टि करके दिखा देंगे।—आचार्य उपगुप्त हमारा नेतृत्व करेंगे और इस 'धम्म महा-साम्राज्य' की प्रवर्तिका होंगी देवी शीला !

सभी नागरिक—(ऊँचे स्वर में) सम्राट् अशोक की जय हो ! मगध का 'धम्म साम्राज्य' चिरजीवी बने !!

[नेपथ्य में राजकीय वाद्ययन्त्रों से एक बहुत ही मधुर और आशापूर्ण स्वर-लहरी निकलने लगती है।]

छठा दृश्य

स्थान—पाटलीपुत्र के राजमहल का उद्यान।

समय—मध्याह्न-पूर्व।

[सम्राज्ञी तिर्शा के साथ शीला कदम्ब के एक पेड़ के नीचे बैठी है, सम्राट् अशोक की सबसे छोटी कन्या संघमित्रा उसकी गोद में है। उसके पास ही चार बरस का बालक महेन्द्र खेल रहा है।]

तिशी—उन्होंने दूध पीना तक छोड़ दिया है बहन! कहते हैं जब तक मेरे राज्य में एक भी पशु की हत्या होती है, मेरा दूध पीने का कोई अधिकार नहीं है।

शीला—वह जैसी साधना चाहते हैं, उन्हें करने दो। आगे आने वाली सन्तति सम्राट् अशोक के कारनामों को आदरपूर्ण आश्चर्य के साथ देखा करेगी।

तिशी—राज्य के अनेक कर्मचारियों को शिकार का शौक था। उस दिन उन्होंने सब कर्मचारियों को बुला कर बड़े स्नेह के साथ समझाया कि मैं कोई कानून बना कर आप लोगों को अहिंसक बनाना नहीं चाहता, परन्तु आप सबकी मुझ पर बड़ी कृपा होगी, यदि आप लोग शिकार करना छोड़ दें। शिकार की जगह यदि आप दूर-दूर के प्रान्तों में प्रजाहित के उद्देश्य से जाना चाहें तो इस कार्य के लिए आपको सरकारी कोष से मार्गव्यय दिया जाया करेगा। परिणाम यह हुआ कि कर्मचारियों में से शिकार का शौक ही जाता रहा।

शीला—सम्राट् ने उस दिन घोषणा की थी कि हम सब लोग इस बात का प्रयत्न करेंगे कि हम स्वर्ग को

इस पृथवी पर ही ले आएँ। आज सच्चे अर्थों में वह घोषणा पूरी हो रही है।

तिशी—यह सब तुम्हारी ही दया का परिणाम है बहन!

शीला—फिर से तुम मेरी तारीफ़ करने लगीं। बोलो, मैंने तुमसे क्या प्रतिज्ञा ली थी?

तिशी—मुझे माफ़ करो बहन! परन्तु मुझसे रहा नहीं जाता।

[आचार्य उपगुप्त के शिष्य अन्धे भिक्षु का हाथ पकड़े हुए कुणाल का प्रवेश।]

कुणाल—(शीला से) चाची जी, इनसे कहो न कि मुझे वही गीत सुना दें। मैंने इनसे हज़ार मिन्नतें कीं, मगर यह मानते ही नहीं हैं।

शीला—कौन-सा गीत, बेटा?

कुणाल—वही "नैया" वाला गीत चाची जी।

शीला—(तिशी से) तुमने वह नैया वाला गीत सुना है बहन!

तिशी—नहीं तो।

शीला—(भिक्षु से) अच्छा बेटा, ज़रा एक बार वह गीत फिर से तो सुना दो। सम्राज्ञी तुम्हारा वह गीत सुनना चाहती हैं।

भिक्षु—(प्रसन्न होकर) बहुत अच्छा माँ!

(वह गीत गाने लगता है)

गीत

किधर आज नैया हमारी लगेगी
कहाँ सूने तट पर यह बँसी बजेगी!

चला जा रहा हूँ मैं पतवार थामे
सरकता है बजरा अलक्षित दिशा में।
क्षितिज पर खड़ी मौन रंगीन बदली,
किसे ताक शरमा रही है यह पगली।
बहुत दूर है द्वीप जिस में उतरना
अकेले ही मुझको सफ़र हाय ! करना।
यह पड़ने लगी बन की झाँई किनारे
झलकने लगे नील नभ में सितारे।
वहाँ दूर मन्दिर में दीपक जला है
बटोही उधर कोई गाता चला है।
उदासी भरी विश्व कहता कहानी
किधर तुम छिपी बैठी हो मेरी रानी ??
कभी तुमने भी बाट इसकी है जोही
चला जा रहा है यह इकला बटोही।
किसी जन्म में क्या मिलोगी हे साथिन !
यह बजरा पड़ा आज सूना है तुम बिन।

(चित्रा का प्रवेश)

चित्रा—सब लोग इधर बाग़ में छिपे बैठे हैं। मैं सारा महल ढूँढ़ आई।

शीला—आओ दीदी ! हम लोग फिर से वही गीत सुन रहे थे, जो उस दिन शान्त चाँदनी रात में बजरे की

सैर करते हुए पहले-पहल तुम्हारे ही निकट बैठ कर मैंने सुना था।

चित्रा—एक शुभ समाचार सुनोगी बहन ?

शीला—कहो।

चित्रा—तिष्य का पता मिल गया !

तिशी—(उत्सुकता से) राजकुमार तिष्य का पता मिल गया ?

चित्रा—हाँ बहन।

तिशी—तुमने आज यह कितनी खुशी का समाचार सुनाया है चित्रा !

शीला—वह मिले किस जगह ?

चित्रा—कामरूप के जँगलों में बसे हुए भीलों के एक गाँव में। और भाई जी उन्हें लेने को शीघ्र ही उधर जाने का इरादा कर रहे हैं। मैं भी साथ ही जाऊँगी।

शीला—तुम वहाँ जाकर क्या करोगी दीदी ?

चित्रा—मैं ज़रूर जाऊँगी बहन।

शीला—मगर दीदी ! मेरे पाटलीपुत्र छोड़ कर चले जाने के दिन निकट आ रहे हैं।

(तिशी और चित्रा दोनों व्याकुल सी हो जाती हैं।)

चित्रा—यह क्या कहा बहन ?

शीला—मुझे अफ़गानिस्तान की ओर जाना होगा दीदी !

चित्रा—तुम हम लोगों को छोड़ कर कैसे जा सकती हो शीला !

तिशी—तुम नहीं जाने पाओगी !

शीला—यह कर्तव्य का संदेश है। मैं इस सन्देश की उपेक्षा कैसे कर सकती हूँ ?

चित्रा—यह असम्भव है। मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकती। नहीं, तुम कहीं न जाने पाओगी।

शीला—(जरा-सा मुसकरा कर) रात मैंने इस बात पर गम्भीरता से विचार किया था। अफ़गानिस्तान को मेरी आवश्यकता है, मुझे वहाँ जाना ही होगा बहन। और जाना भी सदा के लिए होगा। मैं अपना जीवन जिस उद्देश्य के लिए समर्पित कर चुकी हूँ, उसे तो पूरा करना ही होगा। यही आचार्य उपगुप्त का आदेश है; यही मेरी अन्तरात्मा का सन्देश है।

तिशी—तुम अपने इन बच्चों का मोह भी त्याग दोगी बहन?

चित्रा—तुम चिन्ता मत करो तिशी। देखती हूँ, इन्हें जाने ही कौन देता है। यह भी कभी हो सकता है!

(शीला मुसकरा पड़ती है।)

[इसी समय बालक महेन्द्र शीला के निकट चला आता है।]

महेन्द्र—(शीला से) मुझे अपनी गोद में बैठा लो माँ!

चित्रा—नहीं, यह तुम्हारी माँ नहीं है, यह संघमित्रा की माँ है!

महेन्द्र—(मचल कर) नहीं मेरी माँ हैं!

चित्रा—यह अगर तुम्हारी माँ हैं तो बोलो कुणाल भ्राता जी की माँ कौन हैं?

महेन्द्र—कुणाल भ्राता जी की अम्माँ (तिशी की ओर इशारा करके) चाची जी हैं।

[सब लोग हँस पड़ते हैं। शीला महेन्द्र को खींच कर छाती से लगा लेती है।]

सातवाँ दृश्य

स्थान—पाटलीपुत्र के राजमहल का मुख्य द्वार।

समय—प्रभात।

[शीला बौद्ध भिक्षुओं के पीले वस्त्र पहन कर सदा के लिए सीमाप्रान्त की ओर प्रस्थान कर रही है। फाटक पर उपगुप्त, अशोक, चित्रा, तिष्य, तिशी आदि सभी लोग उपस्थित हैं। राजमहलों के बाहर सड़क के दोनों ओर पंक्ति बाँध कर हजारों नागरिक खड़े हैं। आसमान में बादल छाए हुए हैं। सब ओर पूरी शान्ति है, केवल उद्यान के किसी निकट कुंज में से एक पपीहे की दर्दभरी पुकार रह-रह कर सुनाई पड़ रही है। सम्राट् अशोक की आँखों में आँसू भर हुए हैं। राजमहल की देवियाँ सिसक-सिसक कर रो रही हैं।]

उपगुप्त—(सम्राट् से) **धैर्य धारण कीजिए सम्राट। शीला एक बहुत बड़े उद्देश्य को लेकर सीमाप्रान्त को जा रही हैं। उन के लिए मंगल-कामना कीजिए।**

अशोक—(गद्गद् स्वर में शीला से) **भाभी हम अभागों को अपना अन्तिम आशीर्वाद तो देते जाओ।**

शीला—(थोड़ा सा मुसकरा कर) **सुखी रहो देवर !**

[इसके बाद शीला सब लोगों को नमस्कार करके बच्चों को प्यार करती है। चित्रा की सिसकियाँ बहुत करुण हो जाती हैं। शीला चलने ही लगती है कि सहसा बालक महेन्द्र 'माँ ' माँ !!' कह कर जोर से रो उठता है और वह आगे बढ़ कर शीला का आँचल पकड़ लेता है।]

शीला—(महेन्द्र को गोद में उठा कर) **रोओ मत बेटा ! मैं तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ कि तुम अपने पिता के 'धम्म साम्राज्य' के सब से बड़े सेनानी बनो। मेरे राजा बेटा !** (चुम्बन)

[महेन्द्र को चित्रा की गोद में देकर शीला धीरे-धीरे फाटक की सीढ़ियों पर से उतर कर सड़क पर आजाती है। सभी नागरिक चुपचाप झुक-झुक कर उसे प्रणाम करते जाते हैं। आगे-आगे शीला जा रही है, उसके पीछे आचार्य उपगुप्त हैं और उनके पीछे चार बौद्ध-भिक्षु। धीरे-धीरे वे सब दूर जाकर आँखों से ओझल हो जाते हैं। पपीहे की करुण पुकार अब भी उसी तरह सुनाई दे रही है।]

पटाक्षेप
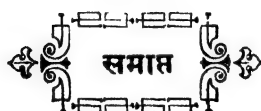
between, for instance, underlying and surface structures, or between genetic phenomena and symptoms Just as every cause is a part of its effect and every effect a part of its cause, every underlying structure partakes of the peripheral and vice versa[4] This is the case if we begin with the status nascendi of a situation and follow its warming up process through stage after stage. Dual constructions such as cause and effect become, then, illogical.

The "Tele" Concept. The tele concept is not a purely theoretical construction It has been suggested by sociometric findings The statistical distribution of attractions and repulsions is affected by some esoteric factor The normal distribution into which practically all psychological phenomena thus far investigated fit is not followed by attraction and repulsion patterns The trend towards mutuality of attraction and repulsion many times surpasses chance possibility[5] The factor responsible for this effect is called "tele" It may explain why there are not as many human societies as there are individuals—a situation which is at least theoretically possible—with all social relations the product of individual imaginations Tele can be assumed to be responsible for the operation of the multiple foci in any relationship between two persons, or as many persons as compose a given social situation It is dependent upon both, or all the individuals and is not the subjective, independent product of each person Out of these operations of the tele factor a product results which has the character of an objective, a supra-individual, system

Although it is clear that the tele factor operates, nothing is as yet known about its "material" structure It may have some relation to gene structure and sexual attraction It may be that the study of *tele psychology* will provide clues to a better understanding of occult phenomena, as clairvoyance and telepathy

The Social Atom. As the individual projects his emotions into the groups around him, and as the members of these groups in turn project their emotions toward him, a pattern of attractions and repulsions, as projected from both sides, can be discerned on the threshold between individual and group. This pattern is called his "social atom". It is not identical with the formal position an individual occupies in the group (his position in the

[4] On the sociometric analysis of home groups, for instance, we find that *some* relationships on the formal level are identical with those on the underlying level and vice versa

[5] See "Statistics of Social Configurations," SOCIOMETRY, Volume I, part I, pp 342-378

family, for instance). It evolves as an inter-personal structure from the birth-level onward. The size of the social atom of any particular individual cannot accurately be discerned unless the whole community or group in which he lives is sociometrically studied Sociometric casework of a single individual may be tolerated in practice, but we must be aware that some positive or negative tele may exist in reference to him which cannot be calculated unless all the individuals around him are tested in conjunction with him. The social atom is the first tangible structure empirically discernible in the formation of a human society. It is its smallest unit Sociometric studies demonstrate clearly that it develops different patterns of varying[6] degree of cohesion, normal and abnormal patterns Thus, an individual can be diagnosed from the point of view of how his social atom is patterned A community can be diagnosed from the point of view of what types of social atoms are in the minority. A study of this sort may suggest the optimum pattern for a well-balanced community in which this or that pattern predominates.

The discovery of social atom patternings is an excellent illustration of how sociometric ideas develop and change in accord with the findings The first construction of sociometric concepts, like the social atom, for instance, was intuitive, suggested by slight, empirical material "Social atom" was first a purely descriptive term for a social configuration which was evident in every inter-personal relation system of a community, but we did not then know what dynamic meaning it had in its formation. Only later did we suspect that it might be a basic social unit

In an early phase of sociometry, at a time when we were studying group structures from the outside, as participant observers (watching children at play, or sitting in a spontaneity theatre and watching the formation of pairs on the basis of various roles, noting how certain persons assumed a leader position in respect to certain others and how some were able and others unable to begin or end an action), we were able to determine with some precision the outer structure of the group [7] But the deeper structure of the group remained undisclosed and, with it, the social atom Accordingly, the first charting of inter-personal relation systems showed blank areas When sociometric tests were applied to a formal group in a public school,[8] the find-

[6] See "Psychodramatic Shock Thereapy" by J L Moreno, SOCIOMETRY, Vol II No 1, p 29

[7] See "Who Shall Survive?" by J L Moreno, pp 169-191, also the section on Experiment in "Das Stegreiftheater," by J L Moreno mentioned in Note 4

[8] See "Application of the Group Method to Classification," by J L Moreno, 1932, pp 98-103

ings permitted an analysis of inner structures, percentages of attractions and repulsions, the number of isolates, pairs, triangles, chains, etc but the social atom could not yet be discerned—not even on the descriptive level—because the tests were limited to the classrooms. The relationships of the pupils to the families, to the neighborhoods and to other situations in which they were involved were not part of the study. It was not until a still further advanced phase was reached, when a whole community was approached sociometrically, that the social atom became discernible

Now that we are unable to study social atoms both descriptively and in their dynamic differentiations, the earlier structural analysis of a community as being made up of pairs, isolates, etc, looks rather artificial, although, within its limit, it is still valid From the point of view of the total community structure, a true pair, for instance, cannot exist independent of relationships with other persons Our previous procedure of structure analysis may, in the course of time, be superseded by the use of more dynamic patternings of the social atom as a more penetrating guide to the depth structure of a community

The great theoretical advances which have been made as the result of sociometric become more pointed if we consider them in the light of the contributions of two sociological pioneers, von Wiese[9] and Cooley[10] From the theoretical distinction between von Wiese's patterns of association and dissassociation in human relations to the modern sociometric concepts is a long way Sociometric concepts had to be constructed anew, as inspired by the dynamics of actual situations Cooley's concept of primary groups comes close to the realities of social structure But, although social atoms are certainly *primary structures,* they are not "face to face" or primary groups To be sure, an individual knows "face to face" a certain number of people composing his social atom—they may belong to his family, home or work group —but he may be ignorant or unconscious of the existence of many individuals who feel strongly about him and there may be some individuals about whom he feels strongly but who are, in turn, either ignorant or unconscious of this fact In other words, there are primary social configurations, social atoms, psycho-social networks, and others, which are not primary groups

Another aspect of the social atom which may stand in need of revision is its relation to the findings which have come to us from spontaneity test-

[9] See "System of Sociology," by Becker-Wiese, 1931

[10] See "Social Organization," by Charles H Cooley, 1909

ing of the individuals comprising it. Originally, we constructed two tests, the sociometric test and the spontaneity test The sociometric test produced findings which suggested the setting up of the concept "social atom", viewed as an attraction-repulsion pattern The spontaneity test, aided by psychodramatic procedures, produced findings which suggested the construction of an additional concept, the "cultural atom", which was viewed as a pattern of role relations Now, in reality, there is but one atom From the point of view of the actual situation, the distinction between social and cultural atom is artificial It is pertinent for construction purposes but it loses its significance within a living community We must visualize the atom as a configuration of interpersonal relationships in which the attractions and repulsions existing between its constitutent members are integrated with the many role relations which operate between them. Every individual in a social atom has a range of roles, and it is these roles which give to each attraction or repulsion its deeper and more differentiated meaning.

Psycho-Social Networks If we continue to investigate the larger and more inclusive sociometric structures which can be discerned on the psycho-geographical map of any typical community,[11] we can discover many intermediate stages between the social atom and the psycho-social network. We can see, for example, the coalescing of three or four social atoms, the central individuals of which are mutually attracted, forming a triangle or a square At other places on the map we may see half a dozen social atoms which exist in close geographical proximity to a dozen other social atoms, but with no visible relations between any of their constituent individual Elsewhere on the map we may encounter a group of social atoms whose c tral individuals show a negative tele to the central individuals of another group of social atoms, in the same geographical area Very little is known about these and more complex structures, beyond their descriptive pattern Local investigation may disclose that, in the first illustration above, the central individuals are of the same kinship In the second illustration, they may belong to different social strata—the one group having a higher c tural and economic status, the other a lower The third illustration m y represent individuals of competitive situations Further exploration is

[11] Individuals cluster together and form psycho-social networks of varyin figurations and the communities in which they live are held together by specif tional currents which can today be mapped with the same precision as the geography of that region In contrast to ethnological concepts such as class, patterns of social atoms, psycho-social networks, and many other similar stru tually exist as dynamic parts of human society

quired which cannot be made by even the most inspired speculation *The communities must first be mapped as wholes; then a study can be begun.*

The psycho-social networks are not readily visible on a psycho-geographical map. We become interested in the possibility of their existence when we noted that *rumor distributed itself irregularly, reaching one section of a community more easily than another.* We saw individuals who were unacquainted with one another and belonging either to different parts of a community or to different communities, doing or saying things so similar and so simultaneously as to seem to indicate some mysterious correspondence —the "grapevines" of folk sociology *It seemed logical to assume that individuals, however far apart they appeared to be geographically or on the social scale but who are associated with one another through the devious links and counterlinks of mutual tele, would produce a smooth channel for the transmission of news, opinions, etc We lifted from the original map all the individuals who were interconnected in the fashion described, regardless of the specific groups to which they belonged, and then transferred them to a new map Thus, we saw the entire community broken up into several so-called "psycho-social networks"* We saw them partly overlapping one another, we saw that individuals as a rule belonged to more than one network, we saw that only a group proportion of the individuals who belonged to the same network knew each other personally—the large majority were tied to one another by a hidden chain of tele-links We saw that only a small proportion of the social atoms of a community belonged to any one network, others belonged to different networks or remained unrelated and scattered between the networks, doubly isolated—isolated as individuals, and left out of the networks

Once the networks in a community were described and mapped, it was easy to demonstrate their dynamic existence by a simple experiment. In a closed community which was under investigation, we were aware that rumors passed continually back and forth from mouth to mouth *The object of the experiment was to demonstrate that these rumors followed the paths of* ahe *networks which we had mapped* The experimenter entered Group I and approached an individual, M, who, according to the map, belonged to tion work A M was a key individual, that is, he was linked up with 22 marr individuals, some of whom belonged to his Group I, and others to n II, III, IV, and V *M was chosen to be the person with whom to* is its *the spread of a rumor,* which concerned a leading personality in the —nity's administration* We had found that, in networks comprising

9 Se

10 S is rumor was "planted" See for *spontaneous* spread of rumors, *Who Shall* p 256-66

more than 100 individuals, only very few participated in any one other network It seemed, therefore, that *the chances were that the rumor would spread with ease and speed through M's own network, Network A, and then would need a longer time to filter through to the other networks. We assumed that it would take its longest time to reach Network E, into which there was no overlapping from Network A It was gratifying to see our assumptions verified with great accuracy.* Checks from time to time showed that the rumor was, indeed, following the paths we had expected it to follow.

From the material which had been available, it can be deduced that there are many specific patternings of psycho-social networks This field is little explored, but some future study may be able to show that communities differ in accord with the types of networks which prevail within them It will probably become apparent that the size of the various networks differs greatly. Some, we know already, are limited to a particular locality, others operate throughout several communities, still others may cross the whole country, from coast to coast. Microscopic studies of networks will also show that the tele-links between the connected individuals are held together by ideal images (such as Christ) or sacred symbols (such as the Cross and the Swastika). The different characteristics of its psycho-social networks will indicate the growth or decay of a community.[12]

It is obvious that the relationship between the networks and the modern technological apparatus for the distribution of ideas, opinions, and news—the printing press, the motion picture and the radio—is of prime importance. The distorting effect which the printed page has upon individual spontaneity and the mouth to mouth transmission of ideas was, indeed, my first approach to the sociometric concept of the network and the realization that this superimposition of a mechanical-social network upon a psycho-social network produces a situation which takes society unawares and removes it more and more beyond the human control.[13] The development of the film, the radio, and modern propaganda has accelerated this process of which we are largely unconscious, to an unprecedented degree.

In an age like ours, the most important message, if transmitted by mouth, can be kept from dissemination by the first man to hear it if he doe[s] not choose to pass it on, while the most harmful and least cultured expre[s]sion, if uttered at the psychological moment over a prominent radio netwo[rk]

[12] See Loomis "stayer-" and "mover-" networks in "Measurement of the Dis[...]tion of In-Groups in the Integration of a Rural Resettlement Project," by C P L[oomis] and D M. Davidson, Jr, SOCIOMETRY, Vol II, No 2

[13] See "Die Gottheit als Autor" (The Godhead as Author), by J L Moren[o, Ber]lin, 1918

can reach, affect, and disturb almost the whole world. It would be of interest to study what the technological networks, the printing press, and the radio, for instance, actually do to the psycho-social networks of which human society consists There is, however, one important beneficial effect which our modern radio systems have upon the psycho-social networks At one stroke they can bring thousands of independent psycho-social networks in different parts of the country into a confluence which could not have been produced by a mouth to mouth transfer of news or opinion, except after a long period of time So, in order to reach and exterminate his potential as well as his actual enemies with the highest possible efficiency, he gave orders that not only the friends of Trotsky but also the friends of these friends, and the friends of these friends of the friends of Trotsky be "purged", even if the suspicion of any friendly relationship was very slight

Principle of Socio-Genetic Evolution

Whenever repeated sociometric tests have been administered at intervals to the same (or nearly the same) population, the regularity with which certain specific patterns of interpersonal relations have occurred has arrested the attention of investigators The material demonstrating this regularity has been the result of two research projects One project studied the formation and evolution of a community[14] and the other studied the formation and evolution of groups from birth level up to the age of fourteen.[15]

Most of the sociometric studies of communities made to date were of communities which were already established It was almost impossible to trace the principle of socio-genetic evolution in these communities as their past history and their beginnings are unknown An investigator who attempts to demonstrate the operation of this principle must be present when the community is in the process of formation, in statu nascendi and he must follow up its development, step by step The follow-up must consist of the application of sociometric tests, the successive maps of the community will disclose its genesis An opportunity to make a study of this sort has, up to now, been given to an investigator only twice.

---

[14] See description of a resettlement project at Mitterndorf, Austria, 1815 to 1918 "Who Shall Survive?" by J L Moreno, pp 17 and 18, and "Sociometric Planning a New Community," by Shepard Wolman, SOCIOMETRY, Vol I, part I, pp 220- See also discussion by C C Taylor of C P Loomis' paper on "Informal Group- n a Spanish-American Village," in this issue

[15] See description of a sociometric project in a public school with a re-test after a of two years, "Who Shall Survive?" by J L Moreno, 1934, pp 23-28

Sociometric projects, arbitrarily studying groups of children at one or another age level, cannot bring the workings of a socio-genetic evolution into relief. It is interesting to note the relationship between politics and sociometry. There is hardly anything which is more important to a man than his position in the group, or how people feel about him. The ebb and flow of attractions and repulsions within his social atom may be responsible for tensions within him, since he cannot be entirely unaware of how much sympathy or hatred is directed toward him. This is more significant still for the position he has in the psycho-social networks in which he is either active or passive. He may make a guess at what is brewing for or against him—as an individual or as the member of a group, but he cannot know for certain. Political leaders are keenly aware of the "grapevine" phenomenon, they are "practical" sociometrists. In a political campaign, for example, they pick the key individuals in a community and operate through them. Their psycho-geographical maps are, of course, entirely intuitive. If, however, they had real psychogeographical maps of the communities at their disposal, they could make their selection of key individuals with greater precision and prepare their campaigns with better chances of success.

The network theory is able to interpret political phenomena difficult to understand otherwise. One illustration is the purges attributed to Stalin. Why were extensive mass murders committed when relatively few men had actually been found guilty of treason? It would seem unnecessary to punish more than a few, but the cold politician, Stalin, knew that, besides the few men who had been direct associates of Trotsky, there were literally thousands more, potentially equally dangerous, who could be just as threatening to his regime. He knew that, to each of the, say, twelve guilty men, a number of sympathizers must be linked, and to each of these sympathizers, in turn, others were linked, and to this larger circle many others were interlinked, either directly or indirectly, who might become infected with the same political ideas. In other words, he visualized a myriad of psycho-social networks spread over all Soviet Russia in which these actual or potential enemies acted in roles which might be dangerous to him. Unfortunately, he had only a rough, instinctive picture of the networks, he did not know the actual men and their actual positions in their respective communities. The investigator, in order to reach valid material, must approach groups which present a cross section of all the age levels from birth to adolescence. Only then will he be able to compare the most infantile group structure (grou structure in statu nascendi) with each successive step in structure form- tion, from month to month and from year to year. It is upon many m

studies of this sort that a competent discussion of the form and existence of socio-genetic evolution can be based.

Law of Social Gravitation

The sociometric formula of social gravitation states:

People 1 (P1) and People (P2) move towards each other—between a locality X and a locality Y—in direct proportion to the amount of attraction given (a1) or received (a2), in inverse proportion to the amount of repulsion given (r1) or received (r2), the physical distance (d) between the two localities being constant, the facilities of communication between X and Y being equal

The Sociodynamic Law

The sociodynamic law is divided into a first and a second part The first part states that the income of emotional choices per capita is unevenly divided among the members of the group regardless of its size or kind; comparatively few get a lion's share of the total output of emotional choices, out of proportion with their needs and their ability to consummate them, the largest form an average income of choice group within their means to consummate them and a considerable number remain unchosen or neglected. The scores when plotted form a J curve, about two-thirds of the population receiving scores below chance and a relatively few obtaining high scores Though an equal number would have been expected on the basis of chance the proportion of isolates was generally greater than the proportion of stars

The second part states that if the opportunities of being chosen are increased by increasing the size of the group and the number of choices per capita, the volume of choices continue to go to those at the top end of the range (the "stars") in direct proportion to the size of the group and to the number of choices permitted per capita, furthering the gap between the small star group, the average group and the neglected group The excess "profit" gained by the already overchosen members must be ascribed to a chain and network effect which operates in cases of non-acquaintance (with the chosen individual) in addition to the score based on acquaintance (with the chosen individual). The direct factor is proximity choice, the indirect factor, a symbolic choice. An individual, A, may score high in his face to face group, but because of his "role" (he may be a baseball player, an actor, or a senator) his ultimate score may turn out to be a multiple of the initial ore (role corresponds here to what is usually meant by status, status is o much of an abstraction, but role implies a living and concrete function).

THE DIALECTIC CHARACTER OF SOCIOMETRY

The dialectic attitude of the sociometric investigator is brought about on one hand by the natural resistance of the community to a scheme which carries the social process to a maximum degree of realization (for which it is as yet unprepared and uneducated and, on the other hand, by the resistance of people who favor other earlier methods and ideologies in the manipulation of population problems. When sociometry began to arouse public attention several years ago, the number of procedures which were ready for application was few as compared with the number of social problems which were to be faced in any community study Economic, technological and political problems of all sorts pressing for an immediate solution could neither experiment with untried procedures nor wait until they were ready. I recommended, therefore, that supplementary techniques should be used around the true sociometric core, even if they did not fulfill the requirements of genuine sociometric procedures To the category of supplementary techniques belong, among others, public opinion studies, studies of attitudes and socio-economic measurements

When I introduced terms like "sociometry", "sociometric techniques" and "sociometric scale", I anticipated that such terms would be applied to types of social measurement which are in some degree sociometric (near-sociometric)[16] in addition to methods developed by me and my closer associates I also anticipated that, partly because of the influence of sociometry, and partly as a result of the natural development of social science, methods and concepts in sociology, psychology, and psychiatry would become more flexible and realistic and thus approach the point of view which has been fostered by sociometry. An illustration is the development from Bogardus[17] who studies attitudes towards people as a race or as a class and gets an answer which cannot be but a symbolic one and the scale based upon similar data a symbolic scale of attitude to studies like that of Ford,[18] who asks questions which deal with personal contacts. This time the answers must be more concrete—they must be based upon "Experiences"—but they

---

[16] "Near-sociometric" can mean procedures which fall short of the full meaning of the term "sociometric" either in its "socius" aspect or in its "metrum" aspect (see page 18 of this paper) Bogardus and Thurstone provide examples which fall short in the "socius" aspect and the metrum aspect, while case-work studies are typically short in the "metrum" aspect

[17] Bogardus, E S, "Social Distance and Its Origin," 1925

[18] Ford, Robert N, "Scaling White-Negro Experiences by the Method of Equal-Appearing Intervals," SOCIOMETRY, Vol III, a number

are still a far cry from the specific individual with whom the contact took place although it is within the field of the status nascendi of a relationship. An attempt is made, at least, to shape a questionnaire in such a fashion that it more nearly covers the actual inter-individual structures which exist

Another illustration is the development from the older public opinion questionnaire, which expected uniform responses from a rigid, set question, to the more recent refinements in pre-testing questionnaires—adjusting the questions to the group which is to be studied.[10] The latter procedure is also far removed, however, from the sociometric approach which would disclose to the investigator the key individuals in the group, the psycho-social networks through which opinion moves, and whether the opinions which are collected represent the opinions of the key individuals only or the opinions of the groups under their influence Consequently, what these investigators measure may not be what they intend it to be, an opinion of the public, but the private opinions of a small number of people It can be expected that sociometric methods which include the interpersonal relation systems in their tests will gradually replace methods which investigate social situations in a more or less indirect and symbolistic fashion

The other field in which sociometry can demonstrate its value is that of social planning There are many concepts and hypotheses in the conduct of human affairs which stand in the way of the application to their fullest extent of sociometric ideas The philosophy of anarchism, for instance, may criticize the various schemes of present-day governments, however liberal, as authoritarian regimes, but in a society which is sociometrically planned, a special niche for anarchists is not necessary because sociometry is based upon the principle of spontaneity and gives expression to even the most extreme individualism The philosophy of communism, particularly of Marxism, may maintain that the rule of one social class which represents the mass of the producers is necessary in order that a maximum of justice, perhaps arbitrary, may prevail, but in a sociometrically planned society the genuine contribution of collectivism could be brought to its fullest expression without any necessity of resorting to arbitrary measures The economic factor, and with it the production and distribution of goods, cannot be artificially divorced from the total system of interpersonal relations. Within the scope of sociometric investigation a first clue to the solution

[10] Blankenship, A B, "Pre-Testing a Questionnaire for a Public Opinion Poll," SOCIOMETRY, Vol III, No 3

of this knotty problem has been found in the relationship between the sociodynamic effect[20] and the distribution of wealth The philosophy of totalitarianism proposes a regime in which a master race, self chosen, is to rule all other peoples, the master race itself being governed by a leader at the top with a number of auxiliary leaders carrying out his orders But the central problems of this ideology, the leader and the race question, can be handled within a sociometric scheme without violence and certainly with a far greater precision and with a minimum of friction. Within a totalitarian society, the group of leaders who have inaugurated the regime, whether self-chosen or elected, may go stale This may become the Achilles' heel of the totalitarian society, relying as it does upon a distorted distribution of all the total available spontaneity which places, if possible, all the spontaneity in the leaders (maximum spontaneity at the top) and no spontaneity in the peoples (minimum spontaneity at the bottom) This crucial problem, the proper equilibrium between leaders and followers, can be dealt with by means of sociometric planning without having to resort to a totalitarian regime It has been demonstrated[21] within a community which is administered along sociometric lines that the set of individuals who are in key positions today can easily be ascertained by sociometric tests In the course of routine re-testing at regular intervals it becomes dramatically apparent that these key individuals wane in influence and others come up to take their places (in statu nascendi) This raises the question as to whether leadership artificially maintained may not become a "conserve" and therefore a stultifying instead of a spontaneous and inspiring agent In addition, the problem of race is managed as an inherent part of the sociometric scheme By means of concepts like race cleavage and the racial saturation point, populations which differ ethnologically can be distributed within a given geographic area without having to resort to forced and hit-or-miss migration

Sociometry can well be considered the cornerstone of a still undeveloped science of democracy The so-called democratic process if not truly democratic as long as the large spheres of invisible processes disclosed by sociometric procedures are not integrated with and made a part of the political scheme of democracy[22] Sociometry can assist the United States,

---

[20] See "Statistics of Social Configurations," SOCIOMETRY, Vol I, part 2, pp 342-34

[21] See discussion of leaders and leadership, "Who Shall Survive?" by J L Moreno, pp 163, 164

[22] See "Human Nature and Conduct," by John Dewey, Henry Holt & Co, New

with its population consisting of practically all the races on the globe, in becoming an outstanding and permanent example of a society which has no need of extraneous ideas or of forces which are not inherent in its own structure

---

York, 1922, and "Cross Cultural Survey," by George P Murdock, *American Sociological Review*, June, 1940

III.

POLITICAL SOCIOMETRY

SOCIOMETRY AND MARXISM*

It is now a century since the communist manifesto was proclaimed by Karl Marx and Friedrich Engels. It is three decades since the Russian revolution and the dictatorship of the proletariat was established under the leadership of Lenin and Trotzky The eyes of all mankind were and still are directed towards these events with a hope, unparalleled since the emergence of Christianity, and with a question mark. What is the total effect and change produced by this Magna Charta of revolutionary social science? Which are its positive returns and negative drawbacks?

Marx made a distinction between the private property of the means of production and the private property of consumers goods The surplus earnings, called by him "surplus value", because the means of production are owned by a special class, the capitalist class, are collected by a few[1], the owners, instead of by the many, the workers He raised the question as to who should govern the means of production in order to assure society from uneven and unjust distribution of income Thus far Marx was correct But the conclusions he drew from it have not stood up in the crucial test of reality.

His first conclusion was that it is impossible to establish a "classless" society at once For the transition period the means of production should be taken over and governed by the majority, the proletariat, and a government of the workers, "the dictatorship of the proletariat" should be established He expected that this "secondary" state would gradually vanish and a totally socialistic society result Marx was wrong in this conclusion

A few months after the Russian revolution of 1917 I predicted that "the revolution cannot succeed without a specific sociometric outlook The substitution of the rule of one class for the other, as for instance the replacement of the rule of the bourgeoisie by the rule of the proletariat is secondary The essential task is that the second, newly created state, the dictatorship of the proletariat, installed by the suppressed people as an organ of revolution, truly and really vanishes This state cannot eliminate itself unless a complete inner restructuring of all parts of society has taken place" (22) Fifteen years later I continued my appraisal of the Russian revolution as follows The error of Marx was the contention "that the economic and psychological problem of Man cannot be attacked as a unit

---

* Presidential Address, American Sociometric Association, Christmas Meeting, Commodore Hotel, December 26, 1947 Partly published in *Cahiers Internationaux de Sociologie, 1949,* "Methode Experimentale, Sociometrie et Marxism"

at one time, that the psychological problem must wait, that so to speak two different revolutions are necessary, that the economic revolution has to precede the psychological and creative revolution of human society It was a theoretical practical obsession with strategic procedure, the splitting of a unit into two different issues" "The change of economic structure in Russia since the revolution of 1917 does not appear to be accompanied by the expected changes in the psychology of human interrelations. The psychological changes lag far behind the economic changes, the communistic society is still in its first phase, the state has not yet withered away. The Communistic society in its highest state may be a myth, or to apply to it one of his own phrases, 'an opium for the people' to be set aside afterwards as unattainable and Utopian, as soon as the economic program of the first phase, the dictatorship of the proletariat, is achieved." (13) Well, the proletarian state has not vanished, it does not intend to vanish, it has become so strongly entrenched that there is no instrument available by which it could be eliminated. The dictatorship of the proletariat has become just a dictatorship A new proletarian revolution would be required to eliminate it, a revolution just as violent, if not more, as the revolution which swept away the government of the Czar thirty years ago

My thesis is that the split in the original matrix of socialist revolutionary theory is the primary cause for the ultimate failure of the revolution. It provides us with a key for understanding the puzzling developments and abrupt changes in policy which have taken place in Soviet Russia during the thirty years of its existence. It is certain that the founder of socialism did not lack the *vision* but the *knowledge* for formulating a complete theory of revolution, or at least a more complete one, one which would have taken care of all the dimensions of society He prepared a "partial" blueprint, and left the rest in the dark, to circumstance It is perhaps fair to say that Marx put into the blueprint only what he *knew* and left out what he did not know He knew that he discovered in what can be called the *capitalist syndrome* an important phenomenon and he started the revolution with the part he knew He did not know the rest of the social structure and he did not know of instruments by means of which he could explore it. That is why he broke the pattern of revolution into several steps and postponed action on them, indefinitely, until more would be known about their execution.

The second conclusion of Marx was that the "surplus" value is found particularly in capitalistic societies This was correct within certain limits·

it is correct only if the capitalistic-economic phenomena are studied in isolation, apart from the rest and without considering their dependence upon the total social structure. Sociometric studies have shown that the surplus value is a special case of an universally operating tendency, the *sociodynamic effect* "The distorted profit picture in economic relations is a reflection of the distorted tele picture on the interpersonal and intergroup level The social revolution of the class struggle is therefore a displacement from the microscopic to the macroscopic level. Marx was operating on the gross macrosociological level of events Being unaware of the social microscopy of modern sociometry he committed a grave error of insight The sociodynamic effect does not cease to be effective in a socialistic society, it assumes only different forms It would be interesting to envision what effect this knowledge would have had upon his theory and method of social revolution It appears at least that the place of revolutionary action should have been reoriented towards the smallest units of human relations, the social atoms, the primary receptacles of "preferentiation", in order to become truly and permanently effective" (18). There the revolution might spontaneously have taken a more realistic form Besides being economic it would have been at the same time psychological, sociological, axiological and creative, in other words, it might have taken the form of a sociometric procedure

Marx was halfway right in his second conclusion The dictatorship of the proletariat cured society from the capitalist syndrome, reduced the risk of mass unemployment, put a brake on the prosperity-depression cycle typical for capitalistic societies But the question is whether the revolution was indispensable and not too high a price for a comparatively meager outcome The revolution was a major operation and had many unforseeable and unfortunate effects upon the body politic Less violent measures like state capitalism, labor-capital contracts and other forms of paternalistic governments appear able to provide temporary brakes against mass unemployment and the recurrent cycle of inflation and deflation. Both Marx and Lenin might have hesitated to stir up the masses to revolution, had they known in advance that it would end in a stalemate, barring instead of promoting—what after all was their objective—a truly human, classless and stateless socialistic world democracy. The question is therefore· How can we avoid the errors which Marx has made on the theoretical and on the practical level of revolutionary action?

We can avoid the theoretical error by replacing the theory of socialism with the theory of sociometry, and the practical error by replacing the global hit or miss socioeconomic proletarian revolution with "small" sociometric

revolutions. This new view can be applied to a) the theory of social revolution, b) the instruments of revolution.

Theory of Social Revolution. Marx assumed that by means of a careful, materialistic analysis of human relations he had arrived at a full comprehension of what is wrong with human society, that it must be changed economically and that the change cannot take place by persuasion but by social revolution His theory of practice was constructed in behalf of something to be prepared, something to be done, ending in one or several acts of mass violence. His attention was bent upon the dynamic change which he expected was bound to take place in the course of the violent upheaval of the masses and not upon the equally important aspect of its dynamic *failure.* He was not interested in the value of *defeat* of the socio-revolutionary experiment: he was not sufficiently interested to find out that the instrument itself, the socio-revolutionary program was *wrong* All he was interested in comprehending—in the face of defeat (See "The Class Struggles in France") —was what was wrong with the situation to which the revolutionary idea was to be applied *He did not permit himself to doubt the value and veracity of the social revolution itself.* The sociometrist, however much the idea to change the world may burn in him, entertains a different point of view. What may be of little significance to the practical revolutionary Marxist is of the greatest importance to him—the sociometrist is interested in the social revolution as a "social experiment". It is to an extent immaterial to him whether it succeeds or fails. Because of our low grade of social knowledge, he is interested in it primarily as an exploratory experiment and not as a social crusade—in what one learns from it and not only whether society improves through it What would we gain if by sheer luck and blind chance a violent revolution would so criminally and completely succeed, that human society would either be permanently crippled or permanently elevated? There is no guarantee that blind chance might not turn up again and reverse the effect. Perhaps it is better to know the truth although it may never be realized. It may be worthier for mankind to perish with seeing eyes than to live forever in ignorance of its deterioration.

There are similarities and differences between sociometric and socialistic types of change Some of the similarities are: 1) both are in favor of direct action, 2) both are revolutionary, that is demanding a radical change of the existing social order, 3) both are against symptomatic and temporary measures; 4) both claim that a scientific knowledge of the dynamics of social relations is indispensable for a theory of social revolution; 5) both claim that all social ills, economic, psychological, axiological and cultural

are interdependent, 6) both insist that the people act in their own behalf and that they are called to universal social action

Some of the differences are: 1) a scientific knowledge of economics is important but insufficient for a true change of the social order; in addition to economics the dynamic structure of the socius, of inter-individual and inter-group relations has to be known and taken into account in the construction of a theory of social revolution, 2) socialism is the revolution of one class, the economic proletariat, sociometric revolution is a revolution of all classes, of total mankind, of all people, all individuals and all groups without exception, legal or illegal, formal or informal, small or large, of all nations and states, sovereign and unrecognized The sociometric proletariat has its victims in all classes, rich or poor, black or white, among people of high or low intelligence, of superior or inferior spontaneity, 3) Marxism tries to fortify the class consciousness of the proletariat, to bring the masses to a realization of its power and of the actually existing economic conditions, political sociometry in contrast tries to develop in the masses a high degree of "sociometric consciousness", that is, knowledge of the structure of social groups in all parts of the globe, especially of the groups in which they hold immediate membership and in respect to all criteria around which groups may be formed (the economic factor is only one vital criterion), it tries to encourage the masses to insist on change of the legal, social, political and cultural order as indicated by its underlying dynamic structure It insists that economic revolutions are shortsighted, ignorant of the dynamics of the actual structure of human society and that sooner or later the new social order which they create will either relapse to the previous condition which they tried to change or regress into social anarchy.

The idea fix prevails in many minds that before the next step in social revolution can be enacted, every country has to pass through the phase of the dictatorship of the proletariat, that the Russian Soviet type of revolution has to be established everywhere first before a new step can be undertaken. This is usually linked to the idea that the course of social revolutions from feudal to capitalist society, and from capitalist to soviet society is a necessary, irreversible development which could not have been stopped or directed towards an alternate course. But sociometrically there is no such thing as "class", capitalist class, middle class, and worker class The concept of class is pre-sociometric mythology What a sociometric study of such large masses of people as class might reveal is a real portion —a complex of microscopic islands of interpersonal and intergroup structures here and there, and a huge biased political organization tying the pieces together

The greatest advance which sociometry has made as compared with Marxism are: a) its methods by which it can explore causes of social ills; its methods of *social microscopy*, an approach which the French sociologist, Georges Gurvitch, has emphasized independently; b) its linkage to the people in action The first advance has been made in a spirit similar to the one developed by somatic medicine in the nineteenth century. In somatic medicine the cause of many mysterious ailments was finally found in germs, invisible creatures, in micro-organisms The cure of many macroscopic manifestations and endemic diseases such as diphtheria, cholera, syphilis, etc, succeeded because of the new knowledge. The sociological medicine of the future, sociatry, will derive similar benefits from microscopically-oriented sociometric research, which tries to isolate the "social" micro-organisms in the social structure, facilitated by sociograms, sociomatrices, and interaction and movement diagrams. Remedies against social syndromes as the capitalistic syndrome, will be found along lines Marx never dreamed of, less violent and more permanent in their effects Microsociology is, however, still in its infancy. I cannot agree with many of my friends that sociometry has "come of age". It is far from it Such easy optimism comes from the frequent practice to dilute and reduce sociometric tests to questionnaires and to reduce the status of the participants to be halfway between guinea pigs and people who choose and decide their destiny It is here also where Marxism has been at fault As protector of the interest of the masses, it has failed to protect the little isolated individuals, the little informal groups, and last but not least to mobilize the enormous underground networks between one group and the other. There are numerous forms of canalization between distant points in social space. They will be gradually discovered not in the laboratory but through experiments in life itself and as small sociometric revolutions spread all over the globe. The sociometric consciousness and maturity of the people will grow in proportion with the size of the experiments, the number and vitality of the criteria involved and the visible benefit derived from them.

The outcry of unfair exploitation, especially of economic exploitation of the majority of the people, the masses of industrial and rural workers, by a small minority of capitalists has been the well nigh irresistible core of all socialistic revolutions. Little or no attention has been given to the cruelest exploitation of all time practiced not only in capitalistic and communistic societies but by all historically known forms of government. It is the exploitation of the creators of ideas and the inventors of instruments. In their exploitation of this minority communistic and capitalistic societies

are silently united into a single front. It is a proverbially and organically productive but powerless minority. In the manifesto of all socialist parties, landowners and industrial barons have frequently been called thieves and burglars, exploiters and consumers of the labour of the working class. As a matter of fact, they both, the consumers and the working class are exploiters and beneficiaries of the ideas, processes and instruments born of the helpless geniuses of all time The creators, if any, are truly the most exploited minority in the world. They never had a political party, they do not start a revolution of their own to change the world order, they are changing it regardless of what kind of government exists at the time. They are comparatively few in number, they do not form a class, they do not belong to capital or to the proletariat or they may belong to either They do not belong exclusively to one ethnic group or another, to one sex or another. The universality of their emergence seems to contradict the known laws of heredity, they are the most truly international people, the true *avant guarde* of a world society It should be clear from this that no world order can be structured from which these forgotten pariahs of all world revolutions are left out. Indeed, it has to start with them as its foundation. A society of the world has to be like a wide open space in which every kind of people can settle and every kind of idea can find productivity It should be of the greatest flexibility for the freest distribution of people and for the freest ascendance of values. It should be so designed that not a single individual —and not a single group—variety can be left out, that all men have an opportunity to produce a social order which can be called "a creatocracy"

Techniques of Revolution. The term revolution is here used in reference to methods and instruments which attempt to produce changes of a major character in a given social order. The failure of the academic social sciences to develop instruments for change of their own, elemental methods of action which are able to operate "on the spot", has had disastrous consequences in the political arena of our time Socialism and communism—and with them many of their half breeds like fascism and nazism—have been superior and quicker to seize this opportunity. It is widely understood that mass meetings, political organizations of workers, labor unions, seizing the power and control of the armed and judiciary forces, of press and radio, and other acts of overthrowing governmental authority, are instruments of revolution.

Communists and fascists have a large repertory of dramatic, physical, spectacular, and super-Macchiavellian techniques of all sort Being without action techniques, the fraternity of social scientists has been taken by surprise.

Living in the midst of wars and revolutions for nearly half a century they had to look passively on and permit generals and politicians to change the world They tried to argue when elemental measures were required. Intelligent reasoning and polite conference manners were ineffective against party slogans, invectives, laughter, shouting, vulgar jokes and swearing, lies and distortion of facts. They tried to fight action and surprise methods with lyrics and editorials Before they had learned their lesson it was too late. When they awakened from the state of panic and paralyzed fear the game was taken out of their hands and the initial phase of the battle was lost In other words, the *avant guarde* of academic social science did not have social instruments of attack and counter attack available in a period of emergency At last we sociometrists stepped in to the breach and developed "psychological and social shock methods" which may well become scientific instruments of social action, preventives or antidotes against the mass hypnotism and persuasion of purely political systems.

Sociometry has developed, among others, two instruments of change· a) the population test; and b) the sociodrama. The population test is an instrument operating in situ, it brings the population to a collective self expression and to the transaction of its plans in respect to all fundamental activities in which it is, or is about to be involved. It is a flexible procedure which calls for immediate action and for the immediate application of all the choices and decisions made The population may consist of residents of a village, manager and workers of a factory, etc The sociodrama is an instrument by means of which social truth, truth about social structure and conflicts can be explored and social change transacted by means of dramatic methods It may operate like a town meeting with the difference that only the individuals involved in a social issue are present and that decisions are made and actions are taken which are of basic importance to their own community. The productions and solutions in a sociodrama grow out of the group. The choice of the social issue and the decision of its implementation come from the group and not from a particular leader

Sociodramatic workers have the task to organize preventive, didactic and therapeutic meetings in the community in which they live and work, to organize, upon call, such meetings in problem areas everywhere, to enter communities confronted with emergent or chronic social issues, to enter mass meetings of strikes, race riots, rallies of political parties, and so forth, and try to handle and clarify the situation on the spot The sociodramatic agent moves into the group accompanied by a staff of auxiliary egos, if necessary with the same determination, boldness or ferocity as a fuehrer or union

leader The meeting may move into an action as shocking and enthusiastic as those of a political nature, with the difference that the politicians try to submit the masses to their political schemes, whereas the sociodramatist is trying to bring the masses to a maximum of group realization, group expression, and group analysis. The methods have opposite aims, the development of the meetings, therefore, takes a different form The political drama starts from within the politician and his clique, it is pre-arranged and carefully calculated to arouse hostility or bias against a foe The sociodrama however, starts from within the audience present, it is calculated to be educational, clarifying and energizing to all members

Sociometric revolutions do not promise violent and rapid results They dig deep and their success depends upon a new learning process applied to small groups. Similar to an infant, mankind will mature only step by step and to the degree to which sociometric consciousness will refashion our social institutions, the structural readiness of mankind for a world society will ripen Many wars and social upheavals will torture its sick body. In this transition the doctor may be more important than the engineer

In 1848 the masses of the proletariat in the industries and armies were of prime importance for production of goods as well as for making wars. In 1948 the situation has at least potentially changed. Another few decades and factories may be robot-ridden and run by one engineer or a single atom physicist.

As human society is ailing we can expect a psychiatric empire to emerge gradually and spread over the globe Politicians and diplomats will move into second status Social scientists, psychiatrists, sociatrists and sociometrically oriented socialists will move into first The mentor in the White House, a future President of the United States may well be a psychiatrist before another century has passed Is not the whole cosmos beginning more and more to look like a huge mental institution with God as its physician in charge?

Sociometric Theses

1 Human society has a structure of its own which is *not* identical with the social order or the form of government currently in power. Its structure is influenced but never entirely determined by the instrument in charge of its affairs, for instance the state The state may "vanish" but the underlying sociodynamic structure of society persists in one form or another It is into the structure of the socius therefore, that a revolutionary effort has to put its teeth if a lasting and true cure of social ills is to be effected

2. Sociometry has developed two types of instruments, instruments for diagnosing social structures and instruments for changing them. The sociometric test, psychodrama, sociodrama and axiodrama among others can be used for diagnosis as well as for social revolution.

3 The oldest and most numerous proletariat of human society is the sociometric proletariat It consists of all the people who suffer from one form of misery or other, psychological misery, social misery, economic misery, political misery, racial misery, religious misery There are numerous individuals and groups whose volume of attractions, or role expansion, of spontaneity and productivity is far beneath their needs and their ability to consummate them The world is full of isolated, rejected, rejecting, unreciprocated and neglected individuals and groups.

4 The sociometric proletariat cannot be "saved" by economic revolutions It existed in primitive and precapitalistic society, it exists in democratic societies, and in socialist Russia.

5. Sociometry is the sociology of the people, by the people and for the people It teaches that human society cannot be changed by indirect, mechanical manipulation or by the arbiter of force Whatever the type of government and social institutions coerced upon the people, whether they are cooperative communities, communistic, democratic, autocratic or anarchistic types of government, sooner or later they lose their hold upon the people. The people discard them, if they do not root in the productive will of the people and if they are not created with the full participation of every individual member.

6. In order to change the social world social experiments have to be so designed that they can produce change, in order to produce change the people themselves have to be included in its operation You cannot change the world ex-post-facto, you must do it now and here, with and through the people Marx had not the slightest intention of developing an experimental method for the social sciences but he has been the only pre-sociometric sociologist who came close to solving the problem. It is true that the social revolutions which he instigated ended in failure—in their major aims—but this does not contradict the fact that his revolutionary theory was the nearest to an experimental method in the social sciences before the advent of the sociometric method in our own time. How could governments and responsible statesmen ever take the work of social scientists seriously, considering the triviality of their findings and the aimlessness of their experimental designs. They took Marx, Engels, and Lenin seriously because they tried to change the world.

7. The dilemma of Marxism can be summed up in one phrase: its ignorance of the dynamic social structure of human society. It ascribes the deep resistance to change and revolution to the property owners, the capitalistic class It is not aware that *this deep resistance comes directly from the social structure* and if the true cause for it simmers in the mind of some of the followers of Marx, they do not make an adequate effort to take it into account.

8 Sociometric investigations suggest the existence of residual social structures which are traceable to the following phenomena: a) an embryonic social structure which can already be noticed in subhuman societies, b) every social order, after it has had its reign, does not disappear entirely but leaves its mark upon the social structures which it has shaped The cumulative effects of these "hangovers" plus the above-described embryonic development produce a total impact which explains the resistance against change

9. The social experimenter cannot know all the factors entering the situation nor all the changes in these factors which may take place between the time he considers the experiment up to the time he executes it, and he cannot know of new factors which may enter the situation in the course of the experiment itself. The sociometric experimenters escape this dilemma, they are the experimenter and the experimental subject in one Even if they do not know of all the factors entering their situation it is inherent in their feelings, their actions and inter-actions and it must come out in their experimental designs and revolutionary transactions. It may be at times imperfect and unprecise but it is an experiment in vivo, consciously and systematically carried out by the whole group.

10 *Social nature has a sociometric character, that is why sociometry works* The solution is to replace the experimental method of Bacon and Mill which was constructed to meet the requirements of physics, by an experimental method which is able to cross-examine the reality of social change. The idea of setting up a control group in the realm of social action is pregnant with artificiality and abnormality and bound to distort the results or make them trivial Spontaneous control groups are possible, but never outside, only within a sociometric atmosphere. The replacement is accomplished by a process of reversal Mankind itself, in a literal and concrete sense of the word becomes the experimenter and the former autocratic experimenter becomes one of its two billion co-thinking participants

SOCIOMETRY AND THE INDUSTRIAL REVOLUTION

At a recent meeting of the American Sociometric Association Dr Charles Loomis drew on the blackboard a diagram trying to illustrate the problem which the rural sociologist of two generations ago had to face Cooley and others recognized the importance of the primary face-to-face group, but many things happened beneath the surface of the groups which were not visible to the naked eye They looked for a "handle", a social microscope but they didn't find one In small rural communities the important processes and functions of living were tied together in the primary group, love and marriage, home and family life, work, leisure, and cultural interests operated in close proximity But when upon the impact of the industrial revolution the work opportunities were removed from the rural village to a more or less distant industrial center a gradual dislocation of the natural relationships functions and roles took place. Then the need of the "handle" became more acute.

The following statement from "Who Shall Survive" is particularly applicable to modern industrial environments "The local district or neighborhood is only *physically* one unit This (sociometric) analysis shows that it is broken up, not, however, into small units, but into parts which have their corresponding parts in other districts and neighborhoods The local districts are, so to speak, transversed by psychological currents which bind large groups of individuals into units together, *irrespective,* of neighborhood, district, or borough distinctions."

Marx in his analysis of the industrial revolution describing the transition from feudal capitalism to monopoly capitalism stressed correctly the economic and psychological consequences of the use of machines, the separation of the craftsman from his own product. He recognized clearly the dislocations in the work process and the capitalistic consequences in form of surplus value, but *he did not recognize that parallel with the dislocations produced in the economic process profound dislodations took place in the social structure itself* It is obvious that already in precapitalistic societies a handle as sociometry was needed Perhaps it did not emerge because the urgency was not sufficiently great

The industrial revolution precipitated socialism as a process by means of which to cure the capitalistic syndrome; a century later sociometry tries to cure the dislocations in the social structure itself, it is like a repair device for the pathologies inflicted on the community by the industrial revolution Socialistic theory tried to take care of the pathology inflicted

upon the economic structure of society in the course of the industrial revolution, but it was blind to the pathology of the social structure which was aggravated by the industrial revolution As is well known the Russian revolution of 1917 and the dictatorship of the proletariat in its various stages has tried from time to time to introduce socialist methods of economy into its system, but it has left the dislocated pathology of the social structure untouched In other words *the social structure of Soviet Russia is just as much in need of sociometric reconstruction as the social structure in democratic United States* The simultaneous applications of sociometric methods in the United States as well as in Soviet Russia may bring about a rapprochement between the two types of governments. The revolutions of the socialistic-marxistic type are outmoded, they failed to meet with the sociodynamics of the world situation. The next social revolution will be of the "sociometric" type. The next industrial revolution will be of the "zoomatic" type *

The Second Industrial Revolution

In the pre-industrial period the locus of work and the locus of residence were one of the same or in close proximity, especially in the rural communities In the industrial period workers had to move to places where the plants were located The primary work situation was now broken up into numerous industrial centers wherever there was energy available for industrial use The original unity was gone and has given way to diversification It may very well be that the second industrial revolution will unify all forms of energy and the previous dislocation of power will disappear With this, society will return to a state of affairs similar to the one in the preindustrial period. The locus of residence, of work, of leisure, and cultural activities will be again one, centralized and unified It will be a back-to-the-primary-locus movement Cohesion and productivity of the small group will be a first desideratum Sociometric methods may then become very useful because they may provide the social organizer with a handle Perhaps if he had had a handle like sociometry before the industrial revolution set in the catastrophic social revolutions following could have been prevented or could have at least taken place with less violence The time may come when the opportunity to use atomic energy will be as easily

*For a discussion of "zoomatics", see "The Future of Man's World" by J L Moreno, *Psychodrama Monograph,* No 21, Beacon House, 1945, also contained in *Group Psychotherapy,* A Symposium edited by J L Moreno, Beacon House, 1945

available as the opportunity to light a match today. Destroying the world or large parts of it by an act of individual violence will be as easy as putting fire to a building today. The power to destroy the world or to create it further will be put squarely in the hand of every individual. What only a world war or a world revolution can accomplish today, the ruin following them, every little man will be able to do single handed. To destroy the world will be as easy as lighting a cigarette, as pushing a button, starting an automobile or turning on an electric light. The law makers of the future will be busier then ever and more laws will be manufactured than the human imagination can foresee But the world police of the future may be just as ineffective in stopping "atom energy—bandits", the manufacturing and smuggling of various devices of destruction, the scheming of a world-hold-up as they are today in controlling white slavery and the smuggling of drugs We won't be able to restrain the use of atomic energy as we have not been able to restrain the use of fire, electricity, or gas. It will either be universally free, common property, or it won't be. The control of group violence is the most urgent problem of our day, in the future the control of individual violence will again become the most important world issue Cain will return.

SOCIOMETRY OF COOPERATION

Marx defines the surplus value as follows· "The surplus value produced by a given capital is equal to the surplus value produced by each workman multiplied by the number of workmen simultaneously employed" If, in this definition given by Marx on page 353, chapter 13 of *Das Kapital* (all further quotations come from the same opus) we substitute surplus value by sociodynamic effect or tele value, workmen by individuals, capital by population, arrive at the following formula The sociodynamic effect produced by a given population is equal to the tele value (unit of sociodynamic effect) of each individual multiplied by the number of individuals (interacting simultaneously and revolving around the same criterion).

Marx assumed that "the individual differences in productivity" can be neglected He postulated that these individual differences compensate one another and "vanish whenever a certain minimum number of workers are employed together" These individual differences, as sociometry has pointed out, do not vanish but come out as the sociodynamic effect. This error of Marx is due to his bias for collectivity, for a collectivity un-

critically conceived. A sociometrically oriented theory of collectivity takes care of this error It can be well compared to the error which Newton made in his theory of gravitation and which Einstein corrected in his theory of relativity. Sociometry has taken these individual differences seriously, but instead of leaving them on the psychological it has translated them on the sociological plane, and has shown that their cumulative effect has profound and far reaching consequences Marx comes close to an insight into sociodynamic effects upon economic relationships when he states. "A dozen persons working together will, in their collective working day of 144 hours, produce far more than twelve isolated men, each working 12 hours or than one man who works 12 days in succession." (Page 358) Sociometrically speaking, a dozen persons taking part in a group held together by a specific criterion will produce a large number of attractions, repulsions and neutralities resulting in a complex network of relations, as made visible in a sociogram If the dozen persons would live apart, twelve units of one each by himself, the sociodynamic effect would be zero This would correspond to the situation of the dozen workers, each working apart from one another, each the manufacturer and the owner of his own product Here the surplus value would be zero If the dozen persons would be divided in six units of two, in four units of three, in three units of four or in two units of six persons, the social structures produced in every case would be simpler and therefore the effects of the interaction less mysterious. The larger the number of workers held together by a capitalistic enterprise, the larger are the possibilities for surplus value gains Similarly, the larger the number of individuals comprising the community, the more intricate and far reaching are the sociodynamic effects. The mystery is in both cases due to a tele process towards which each contributes his share But no one "owns" the tele, just as no one owns atomic energy.

Marx was to such extent intoxicated by economic objectives that he was blinded to the fact that this economic surplus value is merely a special case of "sociodynamic law" Marx points out clearly (page 365) that "the captialist does not buy the laboring power of one man but that of 100 and enters into *separate* contracts (italics ours) with 100 unconnected men instead of with one " "He does not pay for the *combined* labor power of the 100. Being independent of each other, the laborers are *isolated* persons who enter into relations with the capitalist but *not with one another*." (Italics ours) The surplus productivity comes from the "with one another " We sociometrists have isolated the factor which produces sociodynamic

effects resulting from the "with one another" and have called it "tele." The capitalist consummates the tele between him and the workers (his profit) but neglects entirely the tele between the workers themselves and its effect upon them The capitalist takes systematic advantage of the tele factor which is operating between the individual workers and which is responsible for the surplus value of their cooperative productivity The surplus value is a function of tele The cooperation-producing factor, the tele, produces the surplus value It is through the introduction of cooperative strategies that the capitalist makes money, not only through the work of each individual workman alone. The work of the individual workman within the capitalistic system is actually the sum of the work of each individual *plus* the intangible surplus resulting from the cumulative effect of the interactions of all workers

Marx says in another place (page 365): "Hence, the productive power developed by the labourer *when working in co-operation,* (italics ours) is the productive power of capital This power is developed gratuitously." . . "Because this power costs capital nothing, and because, on the other hand, the labourer himself does not develop it before his labour belongs to capital, *it appears as a power with which capital is endowed by Nature—* " (Italics ours)

The question remains "What is the dynamic process underlying this mysterious power" with which capital is endowed by Nature?" Cooperative dynamism remains in the capitalist form of production unconscious of the sociodynamic effect, but doesn't it also remain unconscious in the socialist mode of production? It does If we examine a simple process of social interaction which can be observed in all types of societies and in all social grouping, whether capitalistic or non-capitalistic we can see the following things happening—take an individual A who is chosen by n individuals in reference to a specific criterion, for instance, sexuality He is a center of attraction, each of the n individuals is eager to spend time with him Each of the n individuals may themselves be centers of attraction, however of a smaller number of individuals. Because of the chain reactions an individual A may become the center of attractions not only of n individuals who choose him, but also of a considerable number of individuals who choose them and in turn, perhaps, of the n 1 individuals who choose the latter, etc. It can therefore be said about the social power of A with which he is endowed by Nature that it is developed gratuitously, similar to what Marx says about financial capital, that he has a mysterious power for which he cannot account himself but which he enjoys because

of the chain reactions and because of the unconscious cooperations of a large number of individuals in the group He may take advantage of this power in political elections, public opinion matters, job hunting or sexual activities.

Summing up one can say that every spontaneous interaction of individuals in the course of forming a social group reveals the operations of a universal, dynamic factor which I have called tele A special case of it is the surplus value which becomes manifest in the mode of capitalist production. The capitalistic form of production has only extended, systematized and dramatized a condition peculiar to all group relations

The capitalist syndrome itself is merely a symptom of a far more fundamental and universal process of a sociodynamic law whose workings are still little known, a challenge for the sociometrist and microsociologist of the future.

TESTS OF ANARCHISTIC, UTOPIAN, DEMOCRATIC AND SOCIALISTIC FORMS OF GOVERNMENT (1947)

The experimental testing of laissez faire, authoritarian and democratic behavior in groups was pressed upon me by theoretical considerations first formulated in *Who Shall Survive?*[1] Reason 1) Sociometric studies showed a greater variety of and a greater productivity for social structure than was theoretically anticipated by sociologists Reason 2). We may have too rigid a concept of "human nature", just as its spontaneity appears to be greater than anticipated and open for training on an individual level, this may also be true on the social plane. Before we permit political leaders to take us into adventures on a mass scale, into wars, social revolutions, autocratic systems of government and so forth, we should test the potentialities of such systems of government on a small scale by means of sociometric and sociodramatic techniques, we should let our research imagination go and construct experimental situations for types of government which have failed or succeeded in the past but also for every possible type of government which we could ever anticipate to occur in the future

I had arrived at a general formulation[2] of this problem· "The

[1] See *Who Shall Survive?*, p 96

[2] *Who Shall Survive?* p 96

sociometric approach of group organization is free from preconception of the contrast between individualism and collectives or corporate bodies. It takes the attitude that beyond this contrast there is a common plane, as no individual is entirely unrelated to some other individuals and no individual is entirely absorbed by a collective The position of each individual within his kind, however apparently isolated, is one thing and cooperative acts of such individuals at certain times is another." The contrast between the authoritarian group structure imposed upon the pupils of the Brooklyn Public School 181 and the inhabitants of the Hudson community was found to be in vivid contrast to the group structure revealed by sociometric techniques By themselves these findings appeared to indicate that autocratic practices were productively as well as therapeutically contraindicated, but they did *not* seem to indicate clearly the advantages of democratic practices "Democratic" is a vague term and requires operational definition every time it is used in an experiment The sociometric approach, by its very momentum, does not take sides, it is *neutral*, it has an open mind for all types of social structure. Therefore I set up a number of experiments in order to explore the organizational and therapeutic benefits resulting from the various forms of group organization (The results of these experiments can be found in the "Sociometric Review," partly reprinted in this book on page 76-91)

As John C McKinney put it "The study of human interrelations in *statu nascendi* is the particular, and important, contribution of sociometry Relationships in their dynamic demonstration are functional, and thus a study of them is more predictive than is a study of a cultural conserve. Accuracy of prediction is the essence of science, and it is reasonable to assume that a study of the social act as it *emerges* in behavior will lend greater validity to predictions of patterns of behavior and relationships"[3] But social experiments in *statu nascendi* face a great theoretical and practical problem which I recognized then and whose importance has been more than borne out by recent developments in social science, it is *how to set up such experiments free from bias in favor of one type of government (or system of values) or another* If the experimenter has a marxistic or a fascistic bias he may set the experiments up in such a manner that the results will be in favor of his social hypothesis If, on the other hand, the investigator has a democratic bias

[3] See John C McKinney, "A Comparison of the Social Psychology of G H Mead and J L Moreno", SOCIOMETRY, Vol X, No. 4, 1947.

he may, consciously or unconsciously, set up the experiments in such a manner as to influence the experimental leaders and the experimentees so that the results show the advantages of democratic society. If he has a cooperative bias he may set up the experiments in such a manner and influence the experimental leaders and the experimentees, so that the results show the advantages of cooperative societies. An illustration of autocratic bias is the Nazi indoctrination of German youth, in their social clubs, or the communistic indoctrination in village soviets. An illustration of democratic bias closer to home and of greater interest to the experimental sociologist is Kurt Lewin's experiment with authoritarian and democratic configurations[4] His conclusions in favor of democratic structure are suspicious of bias because a) the experimental setting up was theoretically ill prepared, b) the democratic leaders in the experiment may have been better prepared for democratic indoctrination than the autocratic leaders for autocratic indoctrination No report of role-playing and role-training was given. The carrying out of such an experiment in a democratic country would, by itself, favor democratic outcomes and leaders for democratic indoctrination be more readily available We criticize justly the bias of scientists in Soviet Russia who try to coordinate every scientific hypothesis with marxistic theory. We should not fall into the same error here and bring every scientific hypothesis into tune with democratic theory of life It is for this reason that Lewin's extension of my own experiments are of little value Indeed, they represent a regression because of the false impression they have made in many places as being a scientifically controlled experiment and carried out on "sociometric" foundations Unfortunately, they are not Lewin did not appreciate fully the potentialities of the sociometric matrix versus the official society, whether of democratic or autocratic orientation The sociometric matrix suggests within the democratic range and beyond it a number of social structures which rarely come to the surface of actuality and which should be tested in each specific case.

---

[4] See also "SOCIOMETRY *and the Experimental Method in Social Science*". p 29 of this publication.

IV.

MILITARY SOCIOMETRY

ADVANTAGES OF THE SOCIOMETRIC APPROACH TO PROBLEMS OF NATIONAL DEFENSE

These notes were stimulated by an invitation from the Social Science Research Council, Sub-Committee on Methods of Prediction, under the chairmanship of Dr Samuel A Stouffer, to write a critique of "The Prediction of Personal Adjustment," by Paul Horst and associates,[1] designed to be of use to the authorities of our National Defense At the time of this invitation,[2] I prepared, in the form of a memorandum, some remarks on the applicability of sociometric, situation-and-spontaneity tests to military problems

The relation of concepts like "Stegreif", "impromptu", and "spontaneity" to the concept of "Blitz" is obvious. In military situations of modern times, a premium is placed upon emotional stability, speed of performance and—above all— split-second judgment in action. An individual may be in possession of the knowledge and skills for specific tasks, yet be unable to fulfill the requirements of the immediate situations The factors beyond skill and knowledge which determine behavior require tests of a new sort. It is at this point that sociometric and spontaneity tests have shown the way—particularly in testing individuals in standard life-situations.

METHODS

A new trend in the testing of behavior has been introduced by sociometric and spontaneity procedures for the study of group and individual behavior, respectively Since the trend is gaining ground in many other laboratories, it may be pertinent at this time to recall some of the main principles involved

"The problem was to construct the test in such a manner that it is itself a motive, an incentive, a purpose, primarily for the *subject,* instead of for the tester If the test-procedure is identical with a life goal of the subject, he can never feel himself to have been victimized or abused . Yet the same series of acts performed of the subject's own volition may be a 'test' in the mind of the tester We have developed two tests in which the subject is in action for his own ends. One is the sociometric test.

---

1 "The Prediction of Personal Adjustment," by Paul Horst, with collaboration of Paul Wallin and Louis Guttman, assisted by Frieda Brim Wallin, John A Clausen, Robert Reed and Erich Rosenthal, Bulletin No 48, Social Science Research Council, New York, 1941. xii 447 pp

2 May 21, 1941

From the point of view of the subject, this is not a test at all it is merely an opportunity for him to become active in matters concerning his life-situation. The second test meeting this demand is the spontaneity test Here, in a standard life-situation, the subject improvises to his own satisfaction, but to the tester it releases a source of information in respect to the character, intelligence, conduct and psychological position of the subject . . . Through the sociometric and spontaneity tests, the artificial setting of the . . . Binet intelligence tests is substituted for by the natural life-setting."

"The director sets up the various experimental or test situations . . situations and roles which they (the subjects) themselves which to produce and which they may have within themselves in some degree or development . . The material gained from such tests can be used for diagnostic interpretation."

The situational tests took place before a group of observers averaging 15-20 individuals. Like members of a jury, each of them was able to arrive at an evaluation of the performance.

"A series of situations as they may occur in community life, home life, domestic life, business, etc . is constructed The situations are either chosen by him (the subject) or suggested to him by the instructor. . . The students are told to throw themselves into the situations, to live them through, and to enact every detail needed in them as if it were in earnest. The emphasis is placed upon how true to life a certain procedure is

"One student takes careful record of each performance A copy of it goes to every student . . After each performance, an analysis and discussion of it opens up in which the students as well as the director take part

"The criticism ranges from consideration of the emotions displayed in the situations, to the mannerisms, the knowledge of the material nature of the situations, the relationships to the persons acting opposite, and the characteristics of carriage, speech and facial expression.

"Many traits which indicate personality difficulties are disclosed: anxieties, stage fright, stuttering, fantasies, unreasonable attitudes, and so on"

To the material obtained from these tests in standardized life-situations was added materials gained from the initial interview, case-study, and the individual reactions to the sympathy, hostility, fear or any other emotion hurled at the subject by the persons placed counter to him in the situation A test procedure lasted for two or three sessions, the duration

of a session ranging from one half hour to an hour The recording was usually stenographic, but at times speech recording and motion-picture devices were used.

The operational aspect of the test procedure was thus moved into a place of first prominence, and the observational aspect relegated to second place Sociometric procedures, as applied to group situations, have been described elsewhere The same general principle prevails with sociometric testing as with spontaneity testing

Psychometric vs Sociometric Approach

Methods of Prediction The prediction of personal and interpersonal adjustment is made upon the basis of various tools and methods One method is the psychometric approach, a method which is excellent but one-sided It is the more one-sided the more the other persons in the situation affect the personal picture Predictions must, therefore, of necessity be hampered and narrowed by a large number of contingencies, and the more so the more complex the problem is Another method is the sociometric approach This approach is important not only in order to make the predictions more accurate, but also to make them plausible and acceptable to those for whom they are made—as well as for those who make them

Prediction tables can be based upon psychometric methods and sociometric findings separately or combined, and by the integration of the respective findings As long as prediction tables based upon the psychometric approach are made exclusively to increase our knowledge of individual behavior in general, one can look more tolerably at their statements and conclusions But when the intention is to use them on actual individuals in real-life situations such as, for instance, choosing for a man his working associates or his vocation, or trying to adjust his interpersonal problems, the consequences are extremely serious It then becomes of strategic importance to know which steps to take first—that is, which tools to use first —which steps to take second and third, and which final steps to take in order that prediction tables may work in congruence with adjustment tables, and not independently of one another.

Main Tasks in Personal and Interpersonal Adjustment There are at present two main tasks in all personal adjustment first, to match one man to another man or to a social group, and second, to match a man to a vocation or a job According to statistical prediction tables, constructed on a psychometric basis, there may be an extremely high expectancy that John will make a good work-associate for James, or that John will fit into a cer-

tain group of workers. To take the extreme case, John and James are to be thrown together strictly on the basis of psychometric prediction tables made with a sample group without John and James ever having met and without the predictors ever having interviewed either of them A similar procedure might be applied to John's assignment to a vocation or a work-group, although John may never have met any of the men with whom he is to work, and neither he nor they have ever met the predictors

It does not seem to me that statistical prediction based on psychometrics is as yet sufficiently worked out to be accurate or—in the last analysis—*attuned to certain fundamental ethical demands postulated by the individuals of our culture who expect to take an immediate part in the decisions which are made about their lives.* The sociometric approach is based on their decisions and in addition lends itself better than the psychometric approach to the working-out of prediction tables. Sociometric prediction tables should be able to predict with greater accuracy the potentialities of interpersonal cooperation.

Psychometric vs Sociometric Case Study Individual case-study—as a psychometric approach—is an excellent procedure as far as it goes, but it does not go far enough The individual is still an object—an object of study Case-study techniques, whether using the oral interview or the formal questionnaire, fail to get the full cooperation of the subject They fail to make the object of the case study *an enthusiastically and critically participating subject,* as is the case with sociometric techniques

Sociometric Procedure. It is possible to approach the whole problem of prediction from the opposite end of the prediction-adjustment axis and to begin the work at the level of the real situation of the concrete individual, preparing as the first step adjustment tables and then moving more and more away from the real situations, and gradually developing prediction tables Into the preparation of these can be integrated any of the research methods outside of sociometry Prediction tables based in this manner upon the combined sociometric and psychometric approaches will have their feet on the solid ground of intimate knowledge of the actual needs of the individuals and, at the same time, will give this information to the independent technician in such a way that he can draw practical conclusions from it.

Critique of Psychometric Tests, the Advantages of Spontaneity and Sociometric Testing A basis for psychometric prediction can be found in the following procedures: probationary performance, proficiency tests, and personal and social characteristics associated with success or failure I believe that the use of probationary performance as a check on behavior in

activity—a method both extremely unwieldly and costly in application—should be substituted for by a series of spontaneity tests in standardized life situations for each applicant On the basis of experiments it has been found that these spontaneity tests provide a highly accurate short-cut to the prediction of behavior in activity—however specialized. Proficiency tests are, of course, indispensable, but they can easily be coordinated with the spontaneity tests suggested above This procedure has many advantages. For instance, a person may disclose an increased or a decreased skill in a performance when he is working all by himself, when he is working with agreeable partners, or when he is working with associates who are distasteful to him The personal and social characteristics of the individual can be arrived at by sociometric and spontaneity tests and a sounder basis for prediction thus be achieved than if psychometric methods are used alone.

Application of Sociometric Procedures to Problems of National Defense. The responsibility which the scientist assumes when his suggestions are to be applied to concrete individual situations is so great that it is worth while to challenge the whole view of many psychologists who seem to believe that one can move individuals into jobs or into new communities without their full participation and consent. The defense situation may be particularly tempting for one holding such a view. All of us have been brought up to think that a good soldier is an individual who doesn't think at all but merely obeys orders which come from some authority above him Blind obedience to orders will go on only as long as the suggestions made by the superior prove logical in the end and successful in combat But when defeat and failure set in, protest and rebellion spread to the surface from the grapevines.

Sociometric methods, although they are based on the individual's most personal situations, lend themselves just as easily as any of the psychometric methods to the strictest discipline within defense units. It must be made clear that it is the information which comes direct from the individuals—not the decisions which come as a result of the information. These latter are made exclusively by the sociometric technicians or the military authorities in charge The individuals within a sociometric system of social organization have no influence upon the decisions made by the authorities—merely because he expresses his most objective and most sincere feelings about his job or his associates—than has a soldier who reports to his superior officer what he sees through his field glasses But the tendency should be to include as many of the key individuals and subleaders in the policy making decisions as possible The decisions may be made by the leaders responsible for specific tasks, however, if they are not sociometrically adequate subsequent tests

will reveal any discrepancies incurred The soldier tells the truth to the best of his ability. His statements are used by his superior officer according to the latter's best judgment The officer would be negligent if he did not take full advantage of the information received from every possible individual to whom some responsibility had been assigned Again, it is like the situation when the soldier has suffered an injury and reports to the medical officer where his pains are, and the latter uses this information—in addition to other media—in coming to a diagnosis. In sociometric work, the authority of final choice and decision rests with the technician and the commander. Both should be sociometrically oriented. The individual is used as the most sensitive instrument we know today for sizing up his own sensations and reactions to his environment. The experts of prediction and the experts of adjustment must come to a common course of action We should consider, in the present emergency, the commonsense, direct sociometric approach in preference to any exercise of power over individuals, based upon sample groups which have been studied and analyzed independent of the actualities of the individuals and groups themselves

The sociometric devices which should prove to be particularly helpful for the needs of the national defense program now in development are the sociometric test and the spontaneity test in standardized life situations Both tests are applicable to the main objectives for which expectancy and prediction are desirable. the assignment of an individual to a vocation and the assignment of an individual to other individuals with whom he is to work, live and function in any defense situation Although neither of these procedures is an interview technique, they both nevertheless reveal to the investigator what any interview would disclose and, in addition, bring forth other personal and social characteristics which are ordinarily hidden from the observer. They are both systematized shortcut approaches to the individuals in action

A program which is to assign individuals to communities or to vocations must determine the first step to be undertaken The first step cannot, in my opinion, be a statistical prediction table—not, at least, in the year 1941 with the sciences of psychology, social psychology and sociology in their present stage of development The first step cannot—again, in my humble opinion—be prediction tables based upon case work study, nor can the first step be based upon the "observation" of activity and probationary performance by participant observers or spectators The statistical psychometric prediction table operates in a highly-organized vacuum, but, nevertheless, in a vacuum The case work methods function

with single, independent individuals, but what is needed today is an approach to masses of people and their behavior, statistical prediction considers the mass as an abstraction

The first step to be taken must be with the consent and the cooperation of the individuals concerned It must be made by them as if it were their own project—their own design for living There is no other way imaginable which can enlist the spontaneity, the critical intelligence and the enthusiasm of grown up, thinking people

There is a systematic approach available today which, under the label of "sociometry" has developed methods which are at the very least able to make a frontal attack—an attack which seems, even to the subjects, to be plausible—upon some of the most crucial problems with which our defense program is faced today, for we are taking men out of the groups and communities in which they have been living and we are banding them afresh into new groups and communities designed for but one purpose: the organization of defense Here I purposely emphasize this one point, the first step—for I believe that all other steps following the first can make use of many of the researches and methods which lie outside the sociometric domain If we have the first step right, the prediction tables will follow. If we have the first step wrong, the prediction tables are useless and sterile

THE SITUATION TEST IN AMERICAN-BRITISH MILITARY PSYCHOLOGY VS GERMAN MILITARY PSYCHOLOGY (1949)

This is a discussion of Helen H Jennings' "Military Use of Sociometric and Situation Tests in Great Britain, France, Germany and the United States", and H Ansbacher's "Passing and Lasting Aspects of German Military Psychology" (SOCIOMETRY, Vol XII, 1949)

Did German military psychology originate all the fruitful new ideas which became operative during World War II? Ansbacher says emphatically Yes "The present discussion led to some comparisons between German-European and American-English psychology" ". European psychology through its emphasis on intuition did originate almost all the fruitful new ideas, both in the areas of theory and of diagnosis" As one of the "chief merits of German military psychology were . . the development and large-scale application of a selection method for officer candidates which to date represents in principle the best and probably the only practical psycho-

logical method of leadership selection" ". . . German military procedure of leadership selection has been taken over by Western countries in toto." . . . "It is the group situation tests which have attracted the greatest attention" ". The English had studied the literature of German military psychology and thus their selection camps were indeed similar in all details to those described by Simoneit From the British Army the method was taken over by the Australian Army. . . The Canadian Army as well adopted situation tests for the selection of officer . . . The American Army used the method only in its Office of Strategic Services." . "From military psychology the idea has spread to general applied psychology In England situation tests have been used by one coal company for the selection of supervisors, and from Australia an application for the selection of production managers for a shoe factory is reported"

Jennings says emphatically No, just the contrary. German military psychology did not show a full grasp of situational testing as it was developed by American and British psychologists. "As we study the situation tests used by the military psychologists in Germany under the Nazi regime, we note that not one of them allows the individual scope and variety in solutions, nor gives him a chance for personality expression *per se*, nor, last not least, provides a vehicle for him to show how he would go about developing well integrated team relationships" . "The man is tested as if he were a group symbol for a part in the Army organization and for stereotyped settings in that organization. The term 'real' situation is misleading for such a series of tests because who can know what the situation will be in reality?"

At first sight it seems as if Ansbacher is too anxious to prove his point, he himself says "This may appear as a one-sided judgment; but no other point of view is available to the author" Jennings, on the other hand, appears too much impressed with the role of American and British democratic soil as affecting psychological testing, with the spirit "of the British and American military groups, perhaps steming from the relative advantages of their psychological climate."

I will try to clarify the controversy by asking myself several questions: 1) Did the German military psychologists *originate* the new methods of selection?; 2) Did the British-American military psychologists *originate* the new ideas?, 3) How did they originate?, 4) Did they spread from military to general and applied psychology?, 5) Who applied these methods first on a large scale?; 6) Are the European and especially the German methods in psychology more "intuitive" and are the British-American

methods more "quantitative"? I will quote here a number of authoritative sources in order to clarify to whom they, the origins of the new ideas, may be ascribed

Let us quote first Doctor J. R. Rees,[1] Brigadier and Chief Consultant Psychiatrist for the British Army during the last war. "We Europeans are fascinated as we look at many of the developments in the United States in the study of groups, their structure and dynamics." . . . "The wisdom of the ordinary man was demonstrated when, in the British Army, Moreno's method of "sociometric choice" was used to allow soldiers to select from their own comrades those who should be sent as candidates for officer rank. The careful methods of the Officer Selection Boards showed quite clearly that the choice by the men themselves of those who would be suitable and acceptable officers was considerably better than the selection made by the officers This is encouraging to those of us who believe in democracy" Doctor Rees, who was in the position to know how the brainwaves have traveled and who was since 1941 (and many years before the war) one of the main carriers of inspiration from one side of the Atlantic to the other, apparently thinks that the new ideas originated largely in North America. He infers that the British workers had a good share in their development but he does not mention the Germans.

Second, let us study an American report, the Report of Special Commission of Civilian Psychiatrists, Drs Leo H Bartemeier, Lawrence S Kubie, Karl A Menninger, John Romano and John C Whitehorn, covering Psychiatric Policy and Practice in the U S Army Medical Corps, European Theater, April 20 to July 8, 1945 The Commission was sent out under the auspices of the O S R D and the New Development Division, War Department Special Staff, at the request of the Neuropsychiatry Consultants Division, Office of the Surgeon General[2] " . The organized pattern of the unit and its emotional bonds constitute the dominant constructive and integrative force for the individual soldier in his fighting function. This group life *is* his inner life When an individual member of such a combat group has his emotional bonds of group integration seriously disrupted, than he, *as a person*, is thereby disorganized The disruption of group unity is, in the main, a primary causal factor, not a secondary effect, of personality disorganization "We find that American psychiatrists and other physicians

[1] Dr J R Rees, "Mental Health and World Citizenship", *Survey Graphic*, April 1948, New York 3, New York

[2] Title of the Report is "Combat Exhaustion", *Journal of Nervous and Mental Disease*, Volume 104, No 4, October, 1946.

have considerable difficulty in grasping the significance of the group as the core of personality organization for the soldier in his fighting function." .. "Major Bion, in one of the British hospitals, organized small groups and set them certain specific tasks to accomplish without assigning a leader in order to bring out patterns of interpersonal stresses and relationships" . . "At Northfield, Major Foulkes organized small groups for the spontaneous dramatization of significant experiences both from early life and from the military scene" . . . "The Commission did not have the good fortune to participate in group sessons in American installations, such as those in which it participated in British hospitals In spite of this it may be fair to conclude from discussions with others that the use of group techniques in American hospitals emphasized the instructional aspect of the method, whereas the British (somewhat influenced by Moreno, Burrow and Lewin) showed a greater enthusiasm for the spontaneous, emotional and socializing uses of the method."

Let us turn now to a report of British authorities in "Some Approaches to Group Problems in the British Army",[3] by J D Sutherland and G A Fitzpatrick (this report had been passed by the British War Office Public Relation Department) "In the course of the war, the psychiatrists in the British Army were confronted with a number of problems which were appreciated by them to belong to the institution of the army as a whole or to groups within it and which accordingly could best be treated by methods dealing with the dynamics of the group in its total setting" . "This independent development has features in common with certain trends in America where the term 'sociatric' (Moreno) has been introduced to describe measures of this kind for group problems" . "Bion suggested that use might be made of the knowledge which any group possesses of its own resources and, to mobilize this knowledge effectively, the men in good units might be awarded the privilege of nominating candidates to appear before the W O S. Boards Trist (who had entered the Army after the start of the W O S Boards) pointed out that this was in fact a real sociometric procedure and he suggested that sociometric methods should be employed" . "The method (leaderless group test) consists in presenting to the group a problem of some kind, verbal or practical, and leaving the group entirely free to work out its own solution"

In the official report *Assessment of Men* published by the OSS Assessment Staff (among them were Henry A Murray, Donald W McKinnon,

---

[3] *Group Psychotherapy, A Symposium*, Beacon House, New York, 1945, p 205

Urie Bronfenbrenner) we read. "These methods were first used on a large scale by Simoneit." . . "Our particular debt is to the band of imaginative and progressive psychiatrists and psychologists who devised and conducted the War Office Selection Board (WOSB) program for testing officer candidates for the British Army. From them we gained the valuable idea of having staff and candidates live together in the country during the testing period, and the conception of leaderless group situations" The book contains a brilant, varied presentation, situation tests, sociometric procedures and psychodramatic methods as they were used by that agency

According to Gibb "These situations are not tests of any particular qualities, they are situations in which the candidates are left to act spontaneously" . "The use of leaderless groups does not provide all the answers, of course, and it may raise as many problems about candidates as it gives answers Like the very similar methods of the Sociometric Institute, this is not an easy one to use" (*Journal of Abnormal and Social Psychology*, 42·267-284, July, 1947, p 277) Neither the British nor the American report mentioned German Army psychological procedure, which does not exclude, of course, that the writers may have been acquainted with the German literature dealing with the subject, but *is emphatically pointed out by them that the methods are American and British ideas* and not of German origin, although some versions were used by them on a large scale in military circles only They state that the sociometric and group therapy methods are of American origin and that the leaderless group tests are very similar, if not identical to the role playing methods developed by the Sociometric Institute

Ansbacher's chief claim that German psychology has developed the methods first and that they were adopted by American and English psychology could be substantiated only by comparing individual contributions from workers in Germany between 1923 to 1934, and show their originality and superiority from British and American workers The question is therefore how these procedures came into being *Ideas and methods are not originated by armies or governments, cultures or psychological climates, but by individual pioneers and the intellectual chain reactions between them* We should be careful not to exercise the least bias in favor of one or another country, especially as they have been at war, because it is known that scientific originality does not necessarily go hand in hand with favorable or unfavorable circumstances. The "soil" for their proper application and continued development is another matter Originators and carriers of ideas may thus leave their own countries if the circumstances continue to be ad-

verse and may migrate to places where the chances for their development are more favorable. Talent has, in the sciences as well as in the arts, no geographic or ethnic barrier

Let us therefore quote from or refer to original publications which appeared before and after Simoneit's *Wehrpsychologie* in 1933.

J L Moreno, *Das Stegreiftheater* (1923, summarized by the author, p. 7)·

The problem is "to explore the laws governing an (unrehearsed) situation or plot in which two or more persons interact in a common task—as to speed, positions in space and cooperation." As to leadership selection, see the same opus, p 51. "The individual who emerges as a leader in a situation (plot) or in a certain phase within it has also the leadership in the position taking in space" One is able to observe the emergence of "the initial leader, the change in leadership and the leader at the end of the situation" (Translated from the German original which reads· "Fuhrer, Wechsel in der Fuhrung, Beender" see p 88.)

J L Moreno, *Application of the Group Method to Classification* (1931, 1932)

"This is the problem which occupied us eleven years ago when we first attempted in Vienna to put it on an experimental basis, we reduced the task then to its simplest form· a number of persons were placed opposite one another in a situation whose pattern was unknown to them before the moment of start and in roles and states which were equally unknown to them. The writer's first suggestion to them during the initial phase of experimentation was to let loose, unconcerned about involuntary remarks and gestures, faithfully relying upon the spontaneous aptitudes to act and react on the spur of the moment The objective was simply to produce together in the course of improvised action patterns of a society in miniature." (p 27) . "The intelligence tests have been made after the standard of formal interview But to answer set questions and to meet reality are two different things We need, in addition to what we have, a method of testing which is patterned after a life situation" (p 13) . . "To measure . . adequately, a *situational test* is necessary" (p 14, italics here) . . "Our approach has been that of direct experiment, man in action; man thrown into action, the moment not part of history but history part of the moment —sub species momenti." . "Several persons of the group, with whom the subject who is to be tested prefers to mix, are placed with him into a number of swiftly alternating situations" (p 20 and 21) This monograph, in which I introduced the term *Situational Test* now generally used, and its

experimental concept in its basic characteristics, has pioneered many later formulations by other workers It became known also in politically prominent circles within the German government, for instance, to Dr. Bumke, then President of the German Supreme Court—see letter from the German Department of Justice, p. 87

J. L. Moreno, *Who Shall Survive?* (1934)

"The leader assumes consciously a direct and active role, but he is not the leader of traditional type He has undergone a change It is not more or less blind enthusiasm with which he infects his followers and in which he develops the project, but it is an enthusiasm articulated into the group. It is based upon the spontaneous motives each individual has in respect to each other member of the group and in respect to their common aim, second, upon the organization of the group, as the guidance of groups ought to be based upon the knowledge of their organization. The leader thus gains in objective strength through considering the spontaneous forces within the group and does not impair the subjective strength of his own spontaneity" (p 353) . "Their minds have to be directed not towards an emotional experience and conflict in the past but towards a task in the *present* and the emotional attachment to be developed in respect to it It is this present which is in need of analytical reflection." (p. 352) . . "Through training of individuals for conduct in possibly arising situations, in a variety of roles and functions they may have to assume towards a variety of persons in the possible roles they may assume, the subject learns to meet life situations more adequately" (p 326) It is reasonable, therefore, to consider these three books combined as the first in literature to present group situation tests as formally set up procedures

Among the leaders who have stimulated theoretically or practically the development of selection methods are—aside from my first work in these areas in Europe and later in this country with my earliest collaborator Helen Jennings—Trigant Burrow, M Simoneit, Henry A Murray, Kurt Lewin, Leonard Cottrell, W. R Bion, J Rickman, E L Trist, T F Rodger, G. R Hargreaves, T F. Main, A T. M Wilson, S H Foulkes, H. Bridger, Theodore Newcomb, Urie Bronfenbrenner, D W MacKinnon, S Stouffer, C P Loomis, G Gurvitch, P Maucorps The list is, of course, incomplete It is given here merely to indicate some of the actual workers and developers of these methods between whom in the course of the years rapid intellectual exchange has taken place If I do not mention some German names it is not because they may not have existed but only because I am ignorant of their contribution Group situation tests and sociometric methods have

been applied on a large scale first to *civilian* organizations, in the United States, in closed communities as refugee camps, prisons, reformatories, open communities as rural settlements, resettlements, schools and industries Twelve volumes of SOCIOMETRY are a continuous and impressive record of this. It appears that the German Army psychologists have applied these methods on a large scale to military situations earlier than others But the methods, in their adjustment to military situations, suffered distortion and restriction. The rapid integration of these methods in a limited sense within the German Army as compared with the slower process in the armies of the democracies may have been due to the privilege of authoritarian regime to keep certain methods out entirely by decree, and to permit others to be included into their framework, again by decree

DISCUSSION AND CONCLUDING REMARKS

The relation between "imaginary" and "real" in situation tests[4] is not sufficiently clarified by Ansbacher. Wherever the test is given to a group of men, whether in a laboratory or in an open field, however realistically the test may be organized, and even if the men are made to believe that the situations are the real thing, it is still a "test", it is never the real thing, which can be only the life situation itself, the battle field, perhaps a half an hour later Once the life situation is on hand, for instance, the battle field, situational techniques can be applied by the men themselves, on the spot. The tester has disappeared and all the motivations for the testing, the men are now alone facing the enemy Situation tests are replaced by situation practices There are many terms used in the description of group situational tests which are equivocal, or nearly so, and which are used in literature in a redundant fashion. Terms like psychodrama, sociodrama, life practice, action practice, role playing, role practice, and so forth overlap in one area or another

It is important that we separate those operations commonly used by all situation testers from the differences in terms and semantic descriptions which often confuse the reader and make him think that the writers describe different operations To the uniformed reader an experiment may sound

[4] The meaning of the word "test" was radically changed when used with individuals who warmed up deliberately and directly into action In intelligence tests we test something which is already there, ready to be measured In situation tests the situation to be measured is not given In order for it to be tested and measured the subject has first to warm up, to produce, to act out, or better, to interact with other subjects before measurement and evaluation can take place

different on paper although it is the same thing in action There is not only a common nucleus of operations in all situation tests, there is also a common nucleus of interpretation in them, notwithstanding that several ideological schools have invaded the group situational test field besides sociometry like Gestalt theory, psychoanalysis and behaviorism

The claim that Europeans and Germans in particular are intuitive and subjective, whereas the British and Americans are more interested in measurement, in quantitative and statistical methods, appears a myth, as one analyzes the development of scientific methods in the several countries

I am not a historian but I remember from my University days three psychological leaders of the last hundred years, Galton, Fechner and Freud. The Englishman Galton was as great in intuitive ideas as in the development of measurement methods The German Fechner, almost poetic in his scientific reveries, was prepossessed with measurement projects Freud is often called an intuitive thinker but his intuitions were based on accurate observations which have proven to be more valuable than thousands of so called scientific laboratory experiments which are now forgotten I believe that if he had thought that experimental procedures would have helped the advance of psychoanalytic concepts he would have had the talent to devise them But for what he wanted to attain, the psychoanalytic situation was the most productive device he could contrive A few years ago I became acquainted with the work of two Americans, whose powers are intuitive and observational with little effort to engage themselves in directly quantifying and verifying their hypotheses—Charles Saunders Pierce and George Herbert Mead

The country in which the new methods found their most productive soil was apparently the United States of America, more than the British countries, France and Germany, if one considers the number of original experiments published [5]

Some selection methods, of course, were used in many military organizations as in the German, French, British, and United States armies, before the emergence of the new selection methods, whether situational or sociometric They had some degree of efficiency but their efficiency depended largely upon judgment of the military personnel, especially of the officers. They were comparatively intuitive and arbitrary Modern situational testing, when it first began to be applied to military institutions before and

[5] For an excellent survey and bibliography up to 1945 see Joseph I Meiers, "Origins and Development of Group Psychotherapy'," *Psychodrama Monographs*, No 17, Beacon House, 1945

during the recent war, merely improved and overhauled the existing, authoritarian methods of selection of leadership. Something similar happened in the formation of military groupings, the old nominational techniques being used in military schools were gradually overhauled by sociometric concepts and procedures I can well imagine that some military men, unversed in the development of scientific procedures, may think that nothing was really changed thereby

The fact of two parallel movements towards similar goals in Germany and the United States has a natural explanation in the fact that the Stegreiftheater movement was started in Vienna in 1921 and that *Das Stegreiftheater* was published in Potsdam in 1923, thus stimulating the brainwaves within the German speaking countries Sociometrically speaking such a spread of ideas is easily understood, and it may be in full accord with Simoneit's statement that so far as he knows he has not been influenced by it nor even heard of it.

Summing up, the turning point in the group testing movement came when my idea crystalized to *"play" situations out* "as well as" observing and analyzing them When such situation playing or testing was limited to a specific aspect of it, for instance, to the roles in which the individuals operated, it became "role playing" or role testing. The idea was that if you can "play a role", for instance the role of God, and develop that role and stop its playing at will, you will begin to learn how not to be possessed by that role If it were limited to spontaneity it became "spontaneity playing or spontaneity testing", the idea being that if you can mobilize spontaneity adequately in an imaginary situation and more and more in a near-life like situation that you will gradually learn how to make it available at all times, especially in the unrehearsed moments of living

On the other hand when situation playing was greatly *extended* to a large complex of situations it transcended (but included) situation testing and playing, role playing and testing, spontaneity playing and testing and it *became a psychodrama, a sociodrama or an axiodrama* Because of their universal significance these methods have been gradually applied in the United States between 1925-50 to education, group work, community organization, psychological testing, psychotherapy, sociological research, co-operatives, business, industry and military schools. From the United States they traveled to France and to all the English-speaking countries where they were further developed.

The reader is, of course, aware that group situation tests and sociometric tests have the same theoretical foundation; that, because of the

theoretical linkage one cannot do the one without the other for long It can be predicted that the German military psychologists, indeed, that military departments in all countries, will follow the American, British and French military schools[6] which are already using both methods jointly. Perhaps the strongest argument against the originality claimed in behalf of German military psychology is the fact that their vision has been incomplete and has tried out situation tests without following through with sociometric procedures *per se*.

---

[6] See "Sociometry in France and the United States", SOCIOMETRY, Volume 12, no 1-3, 1949

V.

SOCIOMETRY AND MICROSOCIOLOGY

ORIGINS AND FOUNDATIONS OF INTERPERSONAL THEORY, SOCIOMETRY AND MICROSOCIOLOGY
(1949)

Note I apologize for the autobiographic character of this paper, but being exposed to the dynamic comments and criticism of such distinguished scientists as Gurvitch, Sorokin, von Wiese and Zazzo made a more direct response necessary (see, SOCIOMETRY, Vol XII, 1949)

A man may draw his inspiration from a conceptual heaven or hell Freud once implied (Flectere si nequeo superos, Acheronta movebo," motto to "The Interpretation of Dreams") that he had to go to Hades in order to find some significant connections and interpretations for the world above. My calling was just the opposite, I had to go to heaven to get advice for the world below. I had no alternative, the world in which I found myself when I came to my senses and to my first intellectual formulations about things, was torn to pieces, spiritually and physically. Nietzsche, Marx, and Freud, each in a different area, have brought to effect and to a calamitous end the thought waves which Spinoza had initiated, the Deus sive Natura had further deteriorated to the Lucifer sive Natura. All old values were destroyed for whatever good or bad reasons, new values were not created to replace them. The historical situation compelled me, therefore, to go the whole way of reconstruction in a more radical and extensive way perhaps than anyone else before me in our Western World. Marx saw the position of man as that of a member of society, the struggle within it as his ultimate destiny Freud saw the position of man as the one of a traveler between birth and death, the cosmos beyond was shattered.

I moved man back into the universe

Man is more than a psychological, social or biological being Reducing man's responsibility to the psychological, social or biological department of living makes him an outcast Either he is co-responsible for the whole universe or his responsibility means nothing The life and future of the universe is important, indeed the only thing which matters—more important than the life and death of man as an individual, as a particular civilization or as a species I postulated therefore that *a theory of God* comes first. It must be attained first and is indispensable in order to make the life of any particle of the universe significant, whether it is a man, or a protozoon Science and experimental method, if it be worthy of its claim, must be applicable to the theory of God or whatever the name which we give to a theory of the supreme value I was in the strategic position that the old God values were dead and that agnosticism reigned mankind in the first quarter of the twentieth

century. I could therefore construct new God values with a certain amount of disregard for past constructions. Theology became to my mind what it literally means—the science of God himself, of the supreme value (not of God's creation, the biography of saints, or the religions of mankind). It is outside of this paper's domain to give a presentation of the theology which I evolved, but it is at least *autobiographically* significant here that my God-universe pattern became the blueprint, the ontological guide after which I modelled sociometry, the idea of a society in which our deepest selves are realized It is from my theological analysis and experiments that I drew the inspiration and the certainty to forge ahead in to realms which are entirely secular, materialistic and down to earth The application of experimental methods to theology prepared me for the task of applying them to human relations These experiments in theometry helped me to see the loopholes in the current experimental methods in science as proclaimed by Mill. The form which the experimental method in theological science takes differs, of course, from the form it takes in social science which again differ widely from their form in biological or physical science But there is no "absolute" cleavage between interpersonal, experimental dynamic theology and interpersonal, experimental sociometry The old impasse between science and theology has ceased to exist except for antiquated theologians and ignorant scientists

The uninhibited journey of a psychodramatic theometrician throughout the universe could not be continued endlessly As soon as he settled down to a specific task, his sociometric relation to the nextdoor neighbors, the macroscopic journey became increasingly microscopic to the point where the distance between one neighbor and another appeared to be far greater than the distance between him and the stars

Georges Gurvitch, carefully examining the foundations of sociometry queries the reasons why certain domains of investigation have not been included by sociometrists, particularly as he formulates it, the "we" in its three degrees of intensity, Mass, Community and Communion As the critique is particularly addressed towards me I am glad to admit that a great many investigations have yet been outside of my opportunities but at no time have they been outside of my vision In the work which anticipated and precipitated our concrete sociometric experiments the We problems are at their very essence But to bring them down to earth cannot be done but piecemeal We made lists of hundreds of research projects of which unfortunately only a small part has been brought to realization All my publications

between 1914 and 1925 are nothing but a reduplication of the ideas of Community and Communion not only as to their theoretical formulations but as to their realization in practice, bringing them to a reality test in front of a frequently hostile world. A careful reader of my situational dialogues about the author, the orator, and the actor, of my speeches about the moment, the meeting and anonymity, last not least of my autobiography of the king, will recognize that my very religious preoccupations conditioned me rather to exaggerate than to underrate the importance of the We experience as expressed in community and communion Indeed, one may easily recognize that the same brainwave is still operating in techniques like sociodrama and axiodrama and in my revisions of the experimental method in science What is my emphatic criticism of the mechanical use of the sociometric test, its distortion into a sociometric questionnaire, my recurrent advocation of sociometric town meetings but a structuring of the sociometric method into a community experience, the most violent systematic expression of We feeling yet crystallized in our time? There is nothing mystic about sociometric meetings or psycho-and sociodramatic sessions but they have to be co-experienced as spectator and actor in order to learn of their full significance It is exactly the "We" which we cannot put into an article when we write about "us". But we can materialize and see some phases of the We in a sociodrama

Origin of Interpersonal Theory

At the turn of the century the formula "the individual versus the Universe" appeared to be sufficiently wide for expressing the total situation. The socius was yet unborn One could have multiplied the "individual" by the number of organisms the universe contained One could also have given every individual the opportunity of projection, everyone projecting his own private world into the universe, filling the universe with more or less harmless bubbles The psychoanalysts were at that period not interested, for instance, in what these bubbles *actually did to others* but chiefly in the internal dynamics of the individuals from whom they came. The psychologists of that era were dealing with individuals separate from one another The sociologists were dealing with undifferentiated masses (in this point at least, Comtists and Marxists were in accord). The biologists, social biologists and evolutionary biologists à la Bergson were equally satisfied with the above formula or at least they did not produce any "open revolt" against it. The revolt came—and it is my thesis that careful historical investigation will bear me out—the revolt came unexpectedly from men inspired by

a *neo*theological, or using a more modern term, by an axiological orientation. In many of the great religions ethical prescriptions were part and parcel of their code of morals but they remained imperative and mystic; they were never permitted to become objects of scientific investigation But when in the beginning of the twentieth century the atheistic and agnostic gospels started to spread world-wide a *pro*-religious movement which countered them developed It did not seem to differ much at first from the romantic movement of the nineteenth century, for instance, Kierkegaard never divorced himself from Christianity as a framework and was entirely submerged by the imperatives of his private existence, at no time reaching beyond it The new movement did not appear to be different except for one thing. It began to emphasize the *You,* the You as a person, the responsibility towards the You instead of only towards the I. Kierkegaard's fear of losing the "I" in the "You" was transcended by the movement of the You towards the I taking place *simultaneously* with the movement of the I towards the You Gradually some interpretations were given of the You and I which created for it a radically new position, the idea of *meeting* between you and I, and any number of Thou's and I's forming a community, the idea of the "moment", neither as a function of the past nor of the future, but as a category in itself, the idea of the "situation" and the challenges emerging from it, the ideas of spontaneity and creativity as universal processes of conduct, countering the clichés of the ethical and cultural conserves, and above all the idea of urgency, the urgency of their immediate application. Although they were deeply saturated with value feelings and ethical aspirations they had an *un*mystical appearance and a character which one could call "axio-pragmatic" This countermovement had a theoretical and a practical part The most popular practical manifestation of the revolt was Mahatma Ghandi He is mentioned here because of his spiritual and anti-materialistic message, theoretically he was a reactionary conservative Ghandi's India did not need and was not ready for a theoretical revolt The focus of the theoretical inspiration was naturally assigned to Central Europe (as it was in a parallel situation with the nineteenth century revolt culminating in Marx and Kierkegaard as the two extremes) European culture, especially in its axiological top structure was threatened from all sides. It is here therefore, where the revolt massed itself One has to study the trail blazed by some of the neo-protestants following Kierkegaard as Ferdinand Ebner (1921), some of the neo-Tolstoyan disciples, some of the Russian writers influenced by Dostojewsky as Ssolowjow and Berdjajew, some of the French neo-catholics like Péguy and Rimbaud, some modern exponents

of chassidism like Martin Buber and my own anonymous writings with the "Invitation to a Meeting" (1914) as the central core, in order to come face to face with the original inspirations out of which interpersonal theory and sociometry grew

All these groups must be counted in as having pioneered the new idea as to what constitutes *truly human* relationships and to have prepared the ground for experimentation Prior to this the structure of the "I" had the central position. In the new theory of relationships the structure of the You's moved into the center. And suddenly, out of this insight the *imperative of the meeting,* of the two-way encounter was born, the "invitation to a meeting," one meeting with the other in the fullest realities of themselves and in the fullest responsibility toward the immediate situations It is thus that by ethically oriented situational imperatives the groundwork of modern interpersonal theory was laid Faced with the dilemma of Marxism the secularly oriented social sciences appeared in themselves impotent in integrating it into or creating the necessary counter concepts and counter instruments The religious masses of mankind, in retreat against the onslaught of atheism and agnosticism shocked their leaders into a new assessment as to what the essence of all great religious teaching has been and the result was spontaneity-creativity, sociometry and sociodrama, the gift of a dying religious world towards the foundations of a new social and axiological order This hypothesis of the axiological origin of modern interpersonal theory throws a new light upon the gradual emergence, approximately a decade later, of social thinkers in Europe and the United States, who paved the way towards a science of human relations They, as for instance G H Mead, F. Znaniecki, W J Thomas, L von Wiese, P. Sorokin, G Gurvitch, could not help being influenced by the ethical and axiological concepts which dominated our cultural climate

It was a lucky chain of circumstances which made me the spearhead of the new ideas so many years ahead of others and of men much older than myself As compared with Buber my insistence upon immediate religious action and my theorizing of the moment and interpersonal relations versus his interest in retrospective prophesy, was an asset On the other hand, my interest in exact science, my early acquaintance with psychiatry and psychoanalysis (my work at the Psychiatric Institute in Vienna began in 1911), in addition to my preoccupation with practical axiology gave me an advantage over sociological and psychological colleagues and inspired me to attempt a synthesis, not only for science's sake but also in order to maintain my own mental equilibrium Among the simplest accounts of my inter-

personal theory and practice is the following quotation (taken from my "Rede Über die Begegnung"—Speech About the Meeting—published by Gustav Kiepenheuer Verlag in Potsdam, 1923, p. 24-26).

"Between any particular place wherein any particular persons live and this or any other particular place, in opposite or in all possible directions, there are many countries. And each of these countries has numerous districts. And every district has so and so many communities. And every community may have more than hundred or more than thousand persons. And each person, when one meets the other, lays claim, one upon the other

There are situations for one, there are situations for two, there are situations for more than two. There are situations for all When a situation is so characterized that its problem is related to one, then it can not be solved but in the one, the afflicted one, in himself, alone But when a situation is so constructed that its problem is not related to one, but two, then it cannot be resolved but in the two, by the afflicted two's, through them and between them, alone. But when a situation is so constructed that its problem is not in relation to two but to more than two, then it cannot be resolved but by more than the two, by the afflicted ones, through them and between them, alone But when a situation is so constructed that its problems is not related to more than two but to all, then it cannot be resolved

"Zwischen jedem beliebigen Ort, in dem beliebige Wesen wohnen, und dieser oder jeder beliebigen Stelle, in entgegengesetzter und allen moglichen Richtungen, liegen viele Lander Und jedes der Lander hat mehrere Bezirke Und jeder Bezirk soundso viele Gemeinden Und jede Gemeinde hat mehr als hundert oder mehr als tausend Seelen Und jede Seele, wenn eine der anderen begegnet, erhebt Anspruch eine auf die andere

Es gibt Lagen fur Einen Es gibt Lagen fur Zwei Es gibt Lagen fur mehr als Zwei Es gibt Lagen fur Alle. Wenn eine Lage so beschaffen ist, dass ihr Thema an Einem haftet, kann es nur in Einem, dem Betroffenen, in ihm selbst gelost werden. Wenn aber eine Lage so beschaffen ist, dass ihr Thema nicht an Einem, sondern Zweien haftet, kann es nur in Zweien, von den Betroffenen, durch sie hindurch und zwischen ihnen gelöst werden. Wenn aber eine Lage so beschaffen ist dass ihr Thema nicht an Zweien, sondern mehr als Zweien haftet, kann es nur von mehr als Zweien, von den Betroffenen, durch sie hindurch und zwischen ihnen gelost werden Wenn aber eine Lage so beschaffen ist, das ihr Thema nicht an mehr als Zweien, sondern Allen haftet, kann es nur von Allen, den Betroffenen, durch sie hindurch

but by all, by all the ones who are afflicted, through them and between them

There are innumerable communities and every community consists of a number of streets And every street has a number of houses And every house has a number of apartments And in every apartment live a number of persons So there are innumerable millions of persons upon whom our situation depends and whose situation depends upon us Thus there are innumerable millions of persons who form the knot which chokes us."*

und zwischen ihnen gelost werden

Es gibt unzahlige Gemeinden Und jede Gemeinde besteht aus einer Anzahl Strassen. Und jede Strasse hat eine Menge Hauser Und jedes Haus mehrere Wohnungen. Und in jeder Wohnung leben etliche Personen So sind es unzahlige Millionen von Wesen, von welchen unsere Lage abhangt und deren Lage von uns abhangt. So sind es unzahlige Millionen Wesen, die den Knoten bilden, der uns wurgt"

This quotation is lifted from a speech which—like all the dialogues and speeches to which it belongs—is strictly *concrete-situational,* that means it is not merely a general theorizing on what interhuman or interpersonal relations are, like in a sociological treatise, it is actualized and delivered in the now and here, in a specific setting requiring exactly *this* speech, *this* audience, and *this* actor and the form of delivery it has, in role, gestures and phrasing Outside of this setting, its locus nascendi and primary situation, it loses its axio-pragmatic significance or, as we sociometrists say today, its adequate motivation Lifted from the actual speech, recorded, transferred and quoted in this paper, twenty-six years later, it is here reduced to an aesthetic-intellectual reference Situationally speaking, all religious, philosophical and sociological literature is of such a "secondary" nature. From this point of view the New Testament is a "report" of highly graded situations, divorced from them and made available for the "coming generations" it is merely a religious conserve. A far more inferior, immediate situation but lived out here and now is qualitatively superior to the high grade new-testamentarian one. Interpersonal theory and the situational imperative grew therefore, hand in hand The locus nascendi stimulated also the birth of a new significance of the "moment" The moment is now related to and a part of the

* For illustrations of interpersonal and group dynamics in situ, see "Der Konigsroman" (1923) and my "Dialogues and Speeches" (1918-1919) to be published in translation by Beacon House in the fall of 1950

situation It is no longer a part of "time", like the ever-vanishing present, related to a past and a future, the endpoint of past episodes and the starting point of future episodes, submitted to cause and effect, to psychological and social determinism The moment operates in a totally different dimension from the past-present-future continuity, it is tangential, not identical with it

A simple account as to what the moment means within a situational context is given in my "Rede Uber den Augenblick"—Speech About the Moment —published by Gustav Kiepenheuer in Potsdam, 1922, p 27-29.

"This speech has no past, no recurrence, no future, it is not an heritage and it is not an end-product. It is complete in itself. A feeling must be related to the object of its feeling. A thought must be related to the object of the thought A perception must be related to the object of the perception A touching must be in contact with the object of the touching This speech is the object of our thinking. This speech is the object of our thoughts This speech is the object of our perception This speech is the object with which our touching is in contact. Have then all feelings which belong to it, to our object, have they all emerged now and here? Have then all thoughts which belong to it, to our object, have they all emerged now and here? Have then all perceptions which belong to it, to our object, have they all emerged now and here? Have all touches which are to be in contact with our object, have they all emerged here and now? Or have we had some feelings which are related to the object, did we have them already outside of the object, uncon-

"Diese Rede hat keine Vergangenheit, keine Wiederkehr, keine Nachkommenschaft, sie ist kein Erbteil und kein Ergebnis Sie ist vollendet Ein Gefuhl muss beim Gegenstand sein des Gefuhls Ein Gedanke muss beim Gegenstand sein des Gedankens Eine Wahrnehmung muss beim Gegenstand sein der Wahrnehmung Eine Beruhrung muss beim Gegenstand sein der Beruhrung Diese Rede ist der Gegenstand unserer Gefuhle Diese Rede ist der Gegenstand unserer Gedanken Diese Rede ist der Gegenstand unserer Wahrnehmung Die Rede ist der Gegenstand unserer Beruhrung. Sind nun alle Gefuhle, die zu ihr, unserem Gegenstand gehoren, jetzt entstanden? Sind nun alle Gedanken, die zu ihr, underem Gegenstand gehoren, jetzt entstanden? Sind nun alle Wahrnehmungen, die zu ihr, unserem Gegenstand gehören, jetzt entstanden? Sind alle Berührungen, die zu ihr, unserem Gegenstand gehoren, jetzt enstanden? Oder haben wir manche Gefühle, die auf sie bezogen waren, schon auser ihr, unverbunden mit ihr gehabt, die auf der Zeitstrecke

nected with it? Feelings which have emerged in the passage of time, without it and have vanished without? Or have we had some thoughts which are related to the object, did we have them already outside of it, unconnected with it, which have emerged in the passage of time, outside of it and have vanished outside of it? Or did we have some images which are related to the object, did we have them outside of it, unrelated to it, which have emerged in the passage of time, outside of it and have vanished outside of it? Or did we have some touches with the object outside of it, unconnected with it, which have emerged in the passage of time, outside of it and have vanished outside of it? *We did not have them.* Feelings for it, thoughts of it, perceptions of it, touches with it, which have to emerge and vanish only now and here, have emerged and have vanished now and here

"What is it, therefore, that I, the producer of this speech, must say about it? *It is not a speech which was prepared in advance of the situation It had reason to emerge and no part of it is missing* It did not step in to replace necessary pause and silence It did not force itself in to replace another speech which may have been more fitting It is unique, unreplaceable, cannot be improved upon. No word is missing in it, no phrase is

ohne sie entstanden und erloschen sind? Oder haben wir manche Gedanken, die auf sie bezogen waren, schon auser ihr, unverbunden mit ihr gehabt, die auf der Zeitstrecke ohne sie entstanden und erloschen sind? Oder haben wir manche Bilder, die auf sie bezogen waren, schon auser ihr, unverbunden mit ihr gehabt, die auf der Zeitstrecke ohne sie entstanden und erloschen sind? Oder haben wir manche Bilder, die auf sie bezogen waren, schon auser ihr, unverbunden mit ihr gehabt, die auf der Zeitstiecke ohne sie entstanden und erloschen sind? Oder haben wir manche Beruhrungen mit ihr, auser ihr unverbunden mit ihr gehabt, die auf der Zeitstrecke ohne sie entstanden und erloschen sind? Wir haben sie nicht gehabt Gefuhle fur sie Gedanken uber sie, Wahrnehmungen von ihr, Beruhrungen mit ihr, die nur hier zu entstehen und vergehen haben, sind nur hier entstanden underloschen.

Was ist es daher, das gefragt, ich, der Werker dieser Rede, uber sie sagen muste? Es ist nicht eine Rede im Bau, muste ich sagen. Sie hat Grund gehabt zu kommen und kein Teil fehlt an ihr. Sie ist nicht getreten an notwendigem Schweigens statt. Sie hat sich nicht gedrangt an anderer Rede statt Sie ist einzig, unersetzlich, unverbesserlich Kein Wort fehlt ihr, kein Satz fehlt ihr, kein Gedanke fehlt ihr Sie hat den richtigen Anfang, das richtige Ende

missing in it, no thought is missing in it. It has a correct beginning, the correct ending One sentence develops out of the other, one word develops out of the other, one thought develops out of the other, in logical sequence It is adequate Therefore it can be considered as appropriately produced."

Ein Satz ist aus dem andern entwickelt, ein Wort aus dem andern entwickelt, ein Gedanke aus dem andern entwickelt, in unbarmherziger Folge Sie genugt So ist sie als entstanden zu betrachten "

These were my origins. Whenever I turned away from ethical-philosophic to scientific objectives I could draw from my old saving accounts As one can see from the quotations above they take no sides, they can easily be applied universally, except for manner of speech they could be the position of an operational social scientist or sociometrist of today It is with this heritage of insight and instruments that I moved into the development of sociometry

*Difference Between Sociometry and Psychology**

I am in agreement with the position taken by Gurvitch that "social groups are a reality sui generis, irreducible to the elements of which they are composed" This is in full accord with the core of my writings

* Note I am often represented as being partial to psychiatric concepts and as poorly acquainted with sociological and psychological contributions of the past, for instance by F Znaniecki, G Gurvitch, and L von Wiese However, the instance of my being a psychiatrist by vocation has been falsely interpreted Before I attended medical school my world view was already formed I had studied philosophy at the University of Vienna, psychology and semantics under Adolf Stohr, mathematics under Wirtinger, Gestalt theory under Swoboda, but even these influences were secondary to my private studies of theology and philosophy The scope of my reading was only in a small portion medical It encompassed all the departments of science and included considerable sociological literature Among the sociologists whom I read was Georg Simmel, "Die Philosophie des Geldes", Lazarus, Stein and Bachhofen, Marx and Engels, Proudhon and Sorel, and when I became Editor of a monthly journal, *Daimon,* in February 1918, only one psychiatrist was among the contributing editors, Alfred Adler, two sociologists, Max Scheler and H Schmidt, the poets Franz Werfel, Franz Kafka, Heinrich Mann, Jakob Wasserman, Ottokar Brsezina, religionists like Francis Jammes and Martin Buber From the company of these men it does not look as if I would have been overly influenced by psychiatrists in the development of sociometry It should not be denied that psychoanalysis as a "*negative*" factor had a powerful effect upon my formulations The same thing, however, can be said about Marxism in my sociological, and about Spinozism in *my theological orientation*

The relation of sociometry to other social sciences, especially to psychology has been put forth by me in my leading article "Sociometry in Relation to Other Social Sciences" (Volume 1, Number 1 of SOCIOMETRY, p 206-220, 1937)

"The responses received in the course of sociometric procedure from each individual, however spontaneous and essential they may appear, *are materials only and not yet sociometric facts in themselves. . . .* As long as we (as auxiliary ego) drew from every individual the responses and materials needed, we were inclined—because of our nearness to the individual—to conceive the tele as flowing out of him towards other individuals and objects This is certainly correct on the individual-psychological level, in the preparatory phase of sociometric exploration *But as soon as we transferred these responses to the sociometric level and studied them not singly but in their interrelations, important methodological reasons suggested that we conceive this flowing feeling, the tele, as an inter-personal or more accurately and more broadly speaking, "as a sociometric structure."*

I have never deviated from this position.

The Difference Between Sociometry and Sociology

I am in agreement with the position taken by Gurvitch that the sociometric concept of reality should give a pre-eminent place to collective phenomena in human relations and not concentrate its interest on "intermental psychology"

It is significant, in support of Gurvitch's comment of a cleavage between collective and intermental psychology, that interpersonal theory was rapidly and well received by psychiatrists Since 1929, when I met the late Dr William A White, an early friend and sponsor of my ideas, interpersonal theory began to make its way Although only partly recognized—and partly distorted—by the late Dr Harry Stack Sullivan tried to make them palatable to a declining psychoanalytic ideology, badly in need of a lifesaver *

Psychiatrists accepted interpersonal theory (which in the last twenty years has changed the tenor of psychiatric textbooks) but they *resisted* sociometry and group psychotherapy, fearful apparently, of being involved in collective phenomena, which they did not know how to tackle, whereas social psychologists and sociologists welcomed sociometry and contributed to its development By 1941, influenced by the situations in World War

*Loyalties to psychoanalytic theory handicapped Sullivan in accepting my ideas in full, although an increasing withdrawal away from official psychoanalysis and towards group theory can be observed in his writings of recent years

Two a general acceptance of group psychotherapy began, but one can observe in the literature a marked division between individual-centered group psychotherapies and group-centered ones The psychiatrically oriented workers are inclined to treat an "individual" within a group setting, the sociologically oriented workers try to treat the "group" as a whole. One can observe the same phenomenon in the relationship to action methods, the psychiatrists showing a preference for psychodrama, the sociologists a preference for sociodrama. (Certain inconsistencies in my presentation, especially in the definition of terms are obviously due to the need to carry on our war of persuasion on at least two fronts, psychology and sociology.) However profound and ideologically determined this cleavage may be, we sociometrists can hardly be accused of not having tried to bridge it Like Gurvitch many other sociologists have recognized the cleavage but they had no device by which to span it. It is exactly here where sociometry made one of its chief contributions The study of immediate, interpersonal relations, the I and you, the you and I, was not sufficient for sociological requirements In order to explore the "social group" a procedure was necessary which was able to go beyond the immediate situation *It is by the invention of the sociogram, as we can see clearly now, looking backward, that interpersonal theory was transcended* The forerunner of the sociogram was my interaction and position diagram (See *Das Stegreiftheater*, p 87-95, with sixteen charts) which was apparently the first device consciously constructed for presenting, exploring and measuring social structures as wholes Therefore, 1923 may be considered as the year when sociometry made its scientific debut.

The relation of sociometry to sociology has been clarified by me on many occasions, particularly in Volume 1, Number 1 of SOCIOMETRY, 1937 I never changed my position. While I was chiefly concerned with creating foundations which enable us to study collective phenomena in human relations systematically and accurately, I refused to be contented with elaborate reflections and sophisticated reveries about notions of collectivity, however noble, notions of legal, social or cultural Institutions, although I knew that I would have been in the good company of many distinguished sociologists I decided to play with thoughts as little as possible but *to use my imagination to invent* socio-experimental procedures congruous for the task and see what happens in the course of their application My iconoclastic and neglectful attitude towards dignified and perennial social concepts, as state, religion, family, law, was due to my conscious refusal to fall in line with the scholarly tradition (and

with my own early preoccupation with axiological ventures of that type), but to find a new and more promising experimental approach in sociology, always in the hope that in the course of time sociometric research would justify my strategic suspension and throw some light upon what group, class and mass, law, religion and state really are. There can be no question that a logically coherent and consistent presentation of concepts is essential to any well balanced scientific system, but in an experimental and operational science as sociometry there is a logic inherent in the operations themselves which is able to clarify debatable issues, as for instance, when one definition of a concept at one time seems to contradict its definition at another time What we actually *do* in the course of sociometric operations, sociometric test or sociodrama, defines and illustrates our terms and concepts, it is able to an extent to make up for some inconsistencies or, at least, to correct perceptions coming from poorly worded definitions.

How do we proceed in sociometric research? First step—collection of data· "The responses received in the course of sociometric procedure from each individual, however spontaneous and essential they may appear, *are, materials only and not yet sociometric facts in themselves*" Second step—two social inventions are introduced· the sociogram and the psychogeographical map A sociogram plots all individuals related to the same criterion and indicates the relations they have to each other "A psychogeographical map presents the topographical outlay of a community as well as the psychological and social currents relating each region within it to each other region" (see "Who Shall Survive?" p 241). "The astronomer has his universe of stars and of the other heavenly bodies visibly spread throughout space Their geography is given The sociometrist is in the paradoxical situation that he has to construct and map of his universe before he can explore it The sociogram is . . . more than merely a method of presentation. It is first of all a method of exploration. It makes possible the exploration of sociometric facts The proper placement of every individual and all interrelations of individuals can be shown on a sociogram. It is at present the only available scheme which makes *structural* analysis of a community possible." " The sociograms are so devised that one can pick from the *primary* map of a community small parts, redraw them, and study them so to speak under the miscroscope Another type of . . secondary sociogram results if we pick from the map of a community large structures because of their functional significance, for instance, psychological networks. The mapping of networks indicates that we may devise on the basis of primary sociograms forms of charting which enable us to explore large geographical areas"

The matrix of a sociogram may consist in its simplest form of choice, rejection, and neutrality structures It may be further broken up into the emotional and ideological currents crisscrossing these attraction and rejection patterns The third step—study and discovery of social structures "Once the full social structure can be seen as a totality it can be studied in minute detail We thus become able to describe sociometric facts (descriptive sociometry) and to consider the function of specific structures, the effect of some parts upon others (dynamic sociometry)". We are now able to study interhuman phenomena on the sociological plane, on one hand removed from the limitations of the psychological plane, on the other hand not abstracted and distorted into generalized, lifeless mass-symbolic data We may now try to discover the truly dynamic social structures which rarely become visible to the microscopic eye "Viewing the detailed structure of a community, we see . a nucleus of relations around every individual which is "thicker" around some individuals, "thinner" around others This nucleus of relations is the smallest *social* structure in a community, a *social atom*. From the point of view of a descriptive sociometry, the social atom is a fact, not a concept, just as in anatomy the blood vessel system, for instance, is first of all a descriptive fact It attained conceptual significance as soon as the study of development of social atoms suggested that they have an important function in the formation of human society."

"Whereas certain parts of these social atoms seem to remain buried between the individuals participating, certain parts link themselves with parts of other social atoms and these with parts of other social atoms again, forming complex chains of interrelations which are called, in terms of descriptive sociometry, psychological *networks*. The older and wider the network spreads the less significant seems to be the individual contribution toward it From the point of view of dynamic sociometry these networks have the function of shaping social tradition and public opinion."*

These are illustrations as to how primary social structure have been discovered, first descriptively, stimulating the construction of fruitful hypotheses These discoveries have been made by means of what I have called structural or microscopic analysis There are numerous discoveries still to be made Unfortunately most researchers, using sociometric techniques have paid onesided attention to the choice-preference index* which is now so widely applied and so superficially from "How many dates do you have?", "Who are your friends?", to asking children "Whom do you prefer, your

*Sociometry, Vol I p 212-14 (1937)

father or your mother?" (exploring Freud's Oedipus hypothesis) frequently without mentioning the sociometric paternity Without structural analysis of sociograms vital questions, as for instance leadership phenomena cannot be answered adequately. This onesidedness is unfortunate but understandable Quantitative analysis of choices and rejections is easy and immediately rewarding Structural analysis of sociograms and psychogeographical maps are painstaking, time absorbing and this the more so the larger the communities which are studied They have to be studied at many and different points in time and space in order to learn how a community develops and spreads * Another onesidedness is the reduction of the sociometric test to a number of questions Without the spontaneity and the warming up process of the total group to the problem they have in common sociometric tests become worthless Similarly, a sociometric procedure, without observational, interview and follow up methods on the reality level is crippled, deprived of its meaning Sociometrists, in order to attain the fullest usefulness of their instruments should combine sociometric tests on the choice and on the reality level with psycho-, socio-, and axiodramatic procedures and should always be ready to make modifications in favor of the community of people to which they are applied

Sociometry aspires to be a science within its own right It is the indispensable prologue and preparatory science for all the social sciences. It has several subdivisions like microsociology, microanthropology, microeconomics, microsociatry, microecology and animal sociology It is not merely a slogan indicating a special type of research, a single method or a number of techniques Its present stage of development is still embryonic and scattered but there can be no question as to the potentialities of the new science For the future progress of the social sciences it is of the greatest importance that a science of sociometry is set up and delineated, and its relation to other social sciences defined. Its range and boundaries, its operations and objectives are already more sharply visible than the same references in sociology or anthropology It does not supplant and it must not overlap with sociology or economics, for instance, but their findings on the overt, macroscopic level may receive a new interpretation from the point of view of sociometric research An illustration for an anthropology without sociometry is "Social Structure" by George P Murdock (Macmillan Co, New York, 1949, p. 1-22) Dr Murdock has made a survey of two hundred and fifty human societies In their analysis

---

*A notable exception is Charles P Loomis, see for instance "Sociometrics and the Study of New Rural Communities", SOCIOMETRY, Vol 2, p 56-76, 1939

he distinguishes three types of family organization, the nuclear family, the polygamous family and the extended family. This may be so, but a sociometrically oriented microanthropologist, surveying the same two hundred and fifty societies may have added two distinct contributions to the strictly anthropological findings: a) the existence of "informal" group structures surrounding the official family setting like a social aura, b) the existence of "sub"-family forms of social organizations, forms of association including various individuals and structural relations but which may have never crystalized to become a "type", a legally sanctioned and respectable form of family He may have suggested the hypothesis of a *universal sociometric matrix* with many varieties of structures underlying all known and potential family associations, an interweaving and crossing of numerous sociatomic and culturalatomic processes, but not necessarily identical with the family of one type or another as a social group. Indeed, the matrix, being full of cross currents, and contradictions may, because of its very essence, never be able to mature to a social institution. It is more strategic to explore living, instead of dead cultures and the study of our own culture should be carried out with the full participation of the people, they should not be treated as if they were half dead The study of dead cultures themselves would gain considerably by their resurrection within a sociodramatic setting

The Difference Between Sociometry and Anthropology

I am in full agreement with Gurvitch and von Wiese that the processes associating individuals and forming a social group are not of "an exclusively emotional character." (See Leopold von Wiese, elsewhere in this issue, p. 203) I have repeatedly taken the position that emotional characteristics are only a part of the total social process, although crucial. May I quote here one of my early discussions of interpersonal relationships (in Das Stegreiftheater, p 28-29) as follows: "Sie is von allen Begriffen der Psychologie verschieden. Affekt sagt nicht dasselbe aus. Dennnicht nur Angst, Furcht, Zorn, Hass sind Lagen, sondern ebenso Komplexe wie Hoflichkeit, Grobheit, Leichtsinn, Hoheit und Schlauheit oder Zustande wie Beschranktheit und Trunksucht Auch Bezeichnungen wie Gefuhl oder Zustand entsprechen nicht vollig, Denn mit Lage ist nicht nur ein innerer Vorgang, sondern auch eine Beziehung nach aussen gemeint—zur Lage einer anderen Person." (Translated: "It differs from all concepts in psychology The term affection does not express it, because not only anxiety, fear, anger, hate can be contained in relationships, but also complexes as politeness, rudeness, levity, haughtiness and shrewdness, or conditions like mental inferiority and drunkenness. Terms like feeling or condition do not cover the content of the relationship

either, because with relationship not only an internal process is indicated but also a social, external relationship towards another person.")

A complete sociometric procedure may go down to the bottom of relations and may begin with mobilizing the choices and decisions, the attractions and repulsions, but it should never stop with this. It goes through several steps, up the ladder, exploring the motivations for these choices which may show up to be emotional, intellectual or "axionormative" It goes further and puts the individuals linked in social atoms through spontaneity tests which may show of what emotions an attraction or rejection consists It goes further into role testing, psychodramatic and sociodramatic productions in the course of which the whole gamut of interhuman dynamics comes to the fore Of particular importance should be to anthropologists the concept of the "cultural atom" which is an essential part of my role theory The role theory I have introduced into literature independent from G H Mead and, whereas the philosopher Mead never descended from the lofty levels of speculation and observation, I provided role theory with experimental methods and empirical foundations.

The Difference Between Sociometry And Axiology

I am in full agreement with Gurvitch and Zazzo as to the need of integrating the "we" feeling, the concepts of community and communion into the sociometric framework The rapidly growing use of psychodrama and axiodrama in departments of theology and the wide interest they arouse in religiously oriented cooperatives speaks for itself I am fully aware, however, that there is a long way from the practical use of a method to its scientific integration.

Sociometry and the Doctrine of Spontaneity

I am in full agreement with Sorokin that the concept of spontaneity (s)-creativity (c) is in need of further elucidation. I never contended that spontaneity and creativity are identical or similar processes They are indeed different categories, although peculiarly linked In the case of Man his *s* may be diametrically opposite to his *c*, an individual may have a high degree of spontaneity but be entirely uncreative, a spontaneous idiot. Another individual may have a high degree of creativity within a limited area of experience but may be capable of spontaneity only in reference to this area, he may be incapable or little able of spontaneity in other areas God is an exceptional case because in God all spontaneity has become creativity He is one case in which spontaneity and creativity are identical. At least, in the world of our experience we may never encounter pure spontaneity or

pure cultural conserves, they are functions of one another. A cultural conserve, for instance, a musical or a drama conserve needs some degree of spontaneity and warming up in order to produce an adequate response and performance within a social setting On the other hand an extemporaneous producer cannot help but relate himself to cultural cliches, even if it means that he tries to deconserve them Spontaneity and the warming up process have no premiums for extraverts, they are equally pertinent to intraverts. They operate on all levels of human relations, eating, walking, sleeping, sexual intercourse, social communication, creativity and in religious self realization and asceticism.*

Summary

The great problem which the western civilization in the twentieth century faces is that after having driven people out from the protective walls of strong and cohesive religious systems, it is anxious to replace them by strong and cohesive secular systems—with the aid of science. The difficulty is that science, especially social science progresses slowly. Then, scientific hypotheses vary and often contradict one another. The automatic safety of the autocratic systems is not easily replaceable, but what is worse, there is no hope, no guiding star given to mankind by science What people see is, parallel with the ever-new emergence and accumulation of technological gadgets, the ever-new announcements and accumulations of social research techniques *without any over-all vision as to how these millions of little items may ever fit into a single mosaic* This is a great but tragic sight, a wide spread of spontaneity and creativity emanating from thousands of fine minds, each trying to help by making their contributions, but because of continuous contradictions they increase the confusion of values Doubt rises in the hearts of men that they may have escaped from a prison but landed in a jungle of scientific trappings Faith in science begins to wane in many places because it does not keep the promises it has made But science is neutral, it is knowledge, it cannot save by itself The title of George A Lundberg's recent book "Can Science Save Us?" may have to be reversed into "Can Science Be Saved?" It will be crippled or perish if it cannot create the foundations of a new social order It can be saved if the responsible domain of social science is further extended to include the in-

*I wish I could answer the brilliant and challenging comments of Sorokin more completely in this paper especially as to the relationship of spontaneity to energy, but I refer the reader to my paper "The Doctrine of Spontaneity-Creativity" which will appear in a symposium edited by Pitirim A Sorokin and to be published in the course of 1950 by the Harvard University Press

mediate and practical structuring and guidance of present day human society on all its levels from the physical up to the axiological plane This job may have to begin with "burying the dead", cleaning up our research shelves and laboratories, and concentrating all our efforts upon a few strategically selected points The weakest spot in the armor of present day society and culture is its ignorance of its own social structure, especially of the small local structures in which people actually spend their lives The time has come, after twenty-five years of research in "catacombs", as prisons, hospitals, reformatories, schools, that sociometry moves from the closed into the "open" community It is essential therefore, that we move "fearlessly", armed with powerful and dynamic social inventions into the midst of every town, every region, county and state and dare to shake them out of their dreams of individual psyche existence Only by means of such practical, direct and immediate demonstrations of the usefulness of the social sciences can the faith in science be regained and cemented Only by such means can science be saved and put to full use With the cooperation of "all" the people we should be able to create a social order worthy of the highest aspirations of all times This, and this alone is the meaning of revolutionary, dynamic sociometry

References, Part I, II and III

1 Bacon, Francis *Novum Organum,* 1620

2 Bain, Read Man is the measure SOCIOMETRY, 1942, 5 421-425

3 Chapin, F Stuart *Experimental Designs in Sociological Research* Harper & Brothers, 1947

4 Criswell, Joan H A sociometric study of race cleavage in the classroom *Archives of Psychology,* 1939, 33, No 235

5 Elliott, Hugh *Letters of John Stuart Mill,* 1910

6 Greenwood, Ernest *Experimental Sociology* King's Crown Press, 1945

7 Lewin, K and Lippitt, R An experimental approach to the study of autocracy and democracy SOCIOMETRY, 1938, Vol 1 292-300

8 Littre, A *Comte et Stuart Mill* Paris, 1877

9 Mill, John Stuart *System of Logic,* 1843

10 Moreno, J L *Das Stegreiftheater* Berlin, 1923 (Translated into English and published as *The Theatre of Spontaneity* Beacon House, 1947)

11 Moreno, J L *Conference on group method* National Committee on Prisons and Prison Labor, Meeting of the American Psychiatric Association, Philadelphia, 1932

12 Moreno, J L Psychological organization of groups in the community. *Yearbook of Mental Deficiency,* Boston, 1933

13 Moreno, J L *Who Shall Survive?* Beacon House, 1934

14 Moreno, J L Spontaneity training *Sociometric Review,* 1936 (Also published as Psychodrama Monograph No 4.)

15 Moreno, J L Psychodramatic shock therapy SOCIOMETRY, January, 1939, Vol 2, No 1 1-30 (Also published in Psychodrama Monograph No 5)

16 Moreno, J L Psychodramatic treatment of marriage problems SOCIOMETRY, January, 1940, Vol 3, No 1 1-23 (Also published in Psychodrama Monograph No 7, 1945)

17 Moreno, J L General spontaneity theory *Psychodrama,* 1946, Vol 1 85-89

18 Moreno, J L Contributions of Sociometry to Research Methodology in Sociology *American Sociological Review,* Vol 12, No 3, June, 1947.

19 Moreno, J L and Jennings, Helen Advances in sociometric techniques *Sociometric Review,* February, 1936 (Published also in Sociometry Monograph No 7, 1947)

20 Moreno, J L and Jennings, H. H Statistics of social configurations SOCIOMETRY, Vol 1, No 3-4 343-374, 1938

21 Moreno, J L and Moreno, F B Role test and role diagram of children SOCIOMETRY, August-November, 1945, Vol 8, No 3-4 426-441

22 Moreno, J L Erklarung an Spartakus, *Der Neue Daimon,* January, 1919, Vienna.

SPECIAL REFERENCES

Marx, Karl Capital, 1867

A Handbook of Marxism, International Publishers, New York, 1935